GADYA-MADHURI

OR

HINDI PROSE SELECTION

SUITABLE FOR

INTERMEDIATE CLASSES

OF

Indian Universities and Educational Boards

COMPILED AND EDITED
WITH AN INTRODUCTION
BY

AYODHYA SINGH UPADHYAYA,
Professor, Benares Hindu University,

AND

NAROTTAMA DASA SWAMI, M. A., VISH.,
Professor, Dungar College, Bikaner.

AGRA
LAKSHMI NARAIN AGARWAL
EDUCATIONAL PUBLISHER

गद्य-माधुरी

हिन्दी साहित्य को विविध गद्य-शैलियों के
चुने हुए लेखों का संग्रह
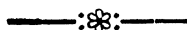
इन्टरमीजियट कक्षाओं के निमित्त

हिन्दी-गद्य के विकास की परिचायक विस्तृत प्रस्तावना सहित

सम्पादक—
साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
प्रोफ़ेसर, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
एवं
पं० नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०, विशारद
प्रोफ़ेसर, डूँगर कॉलेज, बीकानेर

आगरा
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
पुस्तक-प्रकाशक और विक्रेता
१९३९ मूल्य २)

प्रकाशक—
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, बुकसेलर,
हौस्पिटल रोड, आगरा।

मुद्रक—
राधारमन अग्रवाल,
मॉडर्न प्रेस, नमकमण्डी,
आगरा।

भूमिका

आधुनिक हिन्दी-गद्य की विभिन्न शैलियों के परिचायक, उत्कृष्ट गद्य-लेखों का संग्रह ही इस संकलन का मुख्य उद्देश्य है। आरम्भ में हिन्दी-गद्य के विकास का इतिहास भी संक्षेप में दे दिया गया है, जिसमें नवीनतम खोजों का पूर्ण उपयोग किया गया है। पाठकों को उसमें अनेक नई बातें मिलेंगी।

जिन महानुभावों की रचनाएँ इस पुस्तक में संगृहीत की गई हैं, उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना हम परम आवश्यक समझते हैं।

—सङ्कलनकार

विषय-सूची

प्रस्तावना

हिन्दी के गद्य-साहित्य का विकास

हिन्दी भाषा का प्राचीन साहित्य मुख्यतया पद्य में लिखा हुआ है। सभी भाषाओं में पद्यात्मक साहित्य की रचना पहले आरम्भ होती है और प्रारम्भ में बहुत समय तक उसी का प्राधान्य रहता है। गद्य का प्रयोग बोलचाल में या साधारण अस्थायी साहित्य के लिए होता है। गद्य में लिखित बातों को याद रखने में सुभीता नहीं होता, अतः वे स्थायी नहीं रह सकतीं और न उनका विशेष प्रचार हो सकता है। इसी कारण से संस्कृत और प्राचीन हिन्दी में साधारण विषयों पर भी पद्य में ही रचनाएँ की गईं। गद्य में जो कुछ साहित्य लिखा भी गया, वह अधिकांश प्रसिद्धि न प्राप्त करने के कारण नष्ट हो गया या कहीं अन्धकार में छिपा पड़ा है।

हिन्दी में गद्य-साहित्य की रचना की छापेख़ाने के प्रचार से ही प्रेरणा मिली और उसी के बाद उसकी उन्नति हुई। छापेख़ाने का प्रचार भारत-वर्ष में बहुत देरी से हुआ, इसी कारण यहाँ गद्य-साहित्य के अनवच्छिन्न विकास का युग भी देरी से आरम्भ होता है।

फिर भी हिन्दी का प्राचीन साहित्य गद्य से सर्वथा शून्य नहीं है। प्राचीन-कालीन गद्य-रचनाओं के नमूने कहीं-कहीं सुरक्षित रह गये हैं जिनमें से कुछ प्रकाश में आये हैं और बहुत से अन्धकार में पड़े हैं। इन्हीं के आधार पर गद्य के प्राचीन इतिहास का कुछ संक्षिप्त विवेचन यहाँ पर किया जायगा।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने उसके विकास-काल को निम्न-लिखित चार भागों में बाँटा है :—

(१) प्राचीन काल सम्बत् १००० से १४०० तक
(२) पूर्व माध्यमिक काल सम्बत् १४०० से १७०० तक
(३) उत्तर-माध्यमिक काल सम्बत् १७०० से १९०० तक
(४) आधुनिक काल सम्बत् १९०० से अब तक

हम भी अपने विवेचन में इसी काल-विभाग का अनुसरण करेंगे।[1]

प्राचीन काल

(१०००—१४००)

इस काल में साहित्यिक क्रिया-शीलता का केन्द्र राजस्थान था। राजस्थानी भाषा का साहित्य में प्राधान्य था। ब्रजभाषा और गुजराती अभी राजस्थानी से अलग नहीं हुई थीं। इस कारण इस काल की राजस्थानी एक व्यापक साहित्यिक भाषा थी। राजस्थानी में मुख्यतया तीन प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं—

(१) वीर-रसात्मक रचनाएँ—इनके रचयिता चारण-भाट होते थे। वीर-रस के उपयुक्त ओज गुण लाने के लिए ये लोग अपनी रचनाओं में ऐसे शब्दों को अपनाते थे, जो संयुक्त या द्वित्त अक्षरों से बने होते थे। आगे चल कर तो शब्दों को ऐसा बनाने के लिए जान-बूझकर उनकी कपाल-क्रिया की जाने लगी। इस प्रकार की भाषा आगे चल कर डिङ्गल कहलाई।

---

[1] वास्तव में आधुनिक काल का आरम्भ सम्बत् १९०० से न मान कर सम्बत् १९२५ से, हरिश्चन्द्र के कार्यक्षेत्र में आने के साथ, मानना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

(२) लोक-प्रिय रचनाएँ—इनके रचयिता ढाढी-ढोली आदि जातियाँ होती थीं, जिनका व्यवसाय जनता को गा-बजाकर रिझाने का था। ये साधारण बोलचाल की भाषा में बनाई जाती थीं।

(३) जैन-धर्म सम्बन्धी—इनके रचयिता जैन-साधु होते थे। इन की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव विशेष पाया जाता है।

प्रथम दोनों प्रकार की रचनाएँ मुख्यतया मौखिक ही रहती थीं, जिससे उनका रूप धीरे-धीरे बदलता जाता था। इस समय उनका तत्कालीन रूप में प्राप्त होना असम्भव-सा है। जैन-लेखकों की रचनाएँ मुख्यकर के लिखित होती थीं और आज भी उनमें से बहुत-सी उपलब्ध हैं। इनमें अनेकों गद्य में हैं। एकाध उदाहरण आगे दिये जाते हैं।

इस काल के हिन्दी-गद्य के उदाहरण प्राय: नहीं मिलते, परन्तु सच पूछा जाय तो एतत्कालीन साहित्य की अभी पर्याप्त खोज हुई ही नहीं। साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त इस काल के अनेक शिलालेख भी राजस्थान में स्थान-स्थान पर मिलते हैं, जिनमें से कई एक तत्कालीन बोलचाल की भाषा में लिखे गये हैं।

स्वर्गीय मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने कई पट्टे-परवाने प्रकाशित करवाये थे, जिन्हें वे पृथ्वीराज चौहान के समय के मानते थे। कई अन्यान्य विद्वान् भी उनसे सहमत हैं और वे इन परवानों की भाषा को हिन्दी-गद्य के सर्वप्रथम उदाहरण मानते हैं। परन्तु उनकी प्रामाणिकता में पूरा सन्देह है। उनकी भाषा ही स्पष्ट कह रही है कि वह उस काल की नहीं। गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा आदि अनेक इतिहासज्ञ उन्हें जाली समझते हैं। जाली न भी हों तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे बहुत बाद के हैं। उनकी भाषा और लिपि-पद्धति बहुत प्राचीन नहीं।

पूर्व-माध्यमिक काल

(१४००—१७००)

इस काल में साहित्य-केन्द्र राजस्थान से हटकर ब्रज-मण्डल और काशी जा पहुँचा। राजस्थानी का प्राधान्य नष्ट हो गया और वह सार्वत्रिक साहित्यिक भाषा नहीं रह गई। उसका स्थान ब्रज ने लिया। अवधी भी आगे आई, पर ब्रज ने उसे दबा दिया। ब्रजभाषा के इस महत्त्व का कारण उस काल का धार्मिक उत्थान है।

यद्यपि ब्रज ने राजस्थानी को उसके पद से हटा दिया, पर गद्य-साहित्य की दृष्टि से राजस्थानी का ही प्राधान्य रहा। ब्रज ने गद्य में कुछ भी उन्नति न की। उधर राजस्थानी में गद्य की नदी-सी उमड़ पड़ी, जो आधुनिक काल के प्रारम्भ तक निरन्तर प्रवाहित रही। पूर्व-माध्यमिक काल से राजस्थान के विभिन्न राज्यों की ख्यातें (इतिहास) बराबर लिखी जाने लगीं। ऐतिहासिक, अर्धैतिहासिक और काल्पनिक कथा-साहित्य का तो प्रवाह ही बह चला। अभाग्यवश राजकीय परिवर्त्तनों के कारण तथा अन्यान्य कारणों से यह साहित्य सुरक्षित न रह सका। कुछ बिखर गया, बहुत नष्ट हो गया। राज्यों की ख्यातें लिखनेवालों या उस विभाग के अधिकारियों की निजी सम्पत्ति बन कर विस्मृति के गर्त्त में जा पड़ीं।

इस काल में मुसलमान-साम्राज्य के समस्त भारत में फैल जाने के कारण खड़ीबोली का प्रसार सारे देश में हो गया और वह राष्ट्र-भाषा-सी बन गई। मुसलमानों ने भारत में आने पर खड़ीबोली को ही अपनाया था और आगे चल कर वे उसमें साहित्य-रचना करने लगे। पहले उनकी रचनाओं की भाषा शुद्ध होती थी, पर बाद में अरबी-फ़ारसी शब्दों की भरमार होने लगी और भाव्य-व्यञ्जना पर भी फ़ारसी-शैली का

प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रकार खड़ीबोली उर्दू में परिवर्त्तित हो गई। उर्दू के विकास का इतिहास हिन्दी के विकास से भिन्न है। विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक व्यवहार की भाषा खड़ीबोली होने पर भी हिन्दू-लेखकों ने उस ओर ध्यान न दिया। वे राम-कृष्ण की जन्मभूमि की भाषाओं—ब्रज और अवधी—में ही मग्न रहे। यदा-कदा खड़ीबोली में लिखने वाले लेखक भी हुए, जिनकी रचनाओं का पता चला है, पर उनमें अधिकांश का सम्बन्ध किसी-न-किसी शाही दरबार से था, जैसे गङ्गाभाट और जटमल।

इस काल के गद्य-लेखकों और गद्य-रचनाओं का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

(१) ब्रजभाषा का गद्य

(१) कहते हैं कि सं० १४०७ के लगभग गोरखनाथ हुए, जिन्होंने पहले पहल ब्रजभाषा में गद्य-रचना की। कुछ पुस्तकें मिलती हैं, जो गोरखनाथ की लिखी बताई जाती हैं। परन्तु गोरखनाथ का समय सं० १००० से पूर्व हो है, यह नवीन खोजों से सिद्ध हो चुका है। अत: ये गोरखनाथ की कृतियाँ नहीं हो सकतीं। फिर भी उन पर निश्चित् संबत् मिलते हैं, अत: उनको इस समय की रचनाएँ मानना उचित जान पड़ता है। सम्भव है कि ये गोरखनाथ के शिष्यों की लिखी हुई हों और उनके नाम से प्रसिद्ध कर दी गई हों। फिर भी इन रचनाओं की जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं वे इतनी पुरानी नहीं हैं, अतएव सन्दिग्ध ही है कि ये कृतियाँ इन प्रतियों में अपने मूल-रूप में पाई जाती हैं।

(२) विट्ठलनाथ—ये सुप्रसिद्ध महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। अष्टछाप के विधाता यही महाशय थे। इन्होंने शृङ्गार-रस-मण्डन नामक ग्रन्थ ब्रजभाषा के गद्य में लिखा है। इस ग्रन्थ की भाषा विशुद्ध ब्रज है।

(३) गोकुलनाथ—ये उक्त विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनका समय सं० १६२५ से १६५० के आस-पास है। ब्रजभाषा के गद्य में इन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे, जिनमें से पहले दो प्रसिद्ध हैं—

१—चौरासी वैष्णवन की वारता; २—दो-सौ-बावन वैष्णवन की वारता; और ३—वनयात्रा।

इनकी रचनाएँ ब्रजभाषा-गद्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। लिखने का उद्देश साहित्यिक न होने के कारण भाषा बोलचाल की, स्वाभाविक और सुबोध है एवं उसका रूप विशुद्ध, व्यवस्थित और परिष्कृत है। उर्दू आदि अन्य भाषाओं के बोलचाल के शब्द उसमें स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं।

(४) नन्ददास—ये अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि हैं। इनका विज्ञानार्थ-प्रवेशिका नामक ब्रजभाषा का एक गद्य-ग्रन्थ खोज में पाया गया है।

(५) नाभादास—भक्तमाल वाले प्रसिद्ध कवि। इन्होंने सम्वत् १६५७ में अष्टयाम नाम की पुस्तक लिखी।

(६) तुलसीदास—प्रसिद्ध महाकवि। इनका सम्वत् १६६६ का लिखा हुआ एक पञ्चनामा सुरक्षित है, जो (ब्रज में नहीं किन्तु) काशी की ओर की बोलचाल की भाषा में लिखा गया है।

(७) सं० १६७१ की लिखी हुई भुवन-दीपिका नामक एक पुस्तक मिली है।

(८) वैकुण्ठमणि शुक्ल—इनका समय १६७५-१६८४ के लगभग है।

(२) खड़ीबोली का गद्य

(१) गङ्गाभाट—ये अकबर के दरबार में थे। इनकी चन्द छन्द बरनन की महिमा नामक पुस्तक प्रसिद्ध है। यह ब्रज-मिश्रित खड़ीबोली में है। खड़ीबोली के गद्य का सर्व-प्रथम उदाहरण यही माना जाता है।

(२) जटमल—कहते हैं कि जटमल ने सम्बत् १६८० के लगभग खड़ी-बोली के गद्य में गोरा-बादल की बात नामक पुस्तक लिखी, पर अनुसन्धान से ज्ञात हुआ है कि यह कथन ठीक नहीं। जटमल की उक्त रचना गद्य में नहीं, किन्तु पद्य में है।[१] इसी का अनुवाद सम्बत् १८८० के लगभग किसी ने गद्य में किया। हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में जो उदाहरण दिये जाते हैं, वे जटमल की मूल रचना के नहीं, किन्तु इसी अनुवाद के हैं।

(३) राजस्थानी का गद्य

राजस्थानी में इस काल में बहुत-सी गद्य-रचना हुई, जिसमें से अधि-कांश तो असावधानी से नष्ट हो गई। फिर भी जो कुछ बची है, वह तत्कालीन समृद्धि की सूचना देने के लिये पर्याप्त है। अधिकांश रचनाएँ ख्यातों या बातों (अर्द्धैतिहासिक और ऐतिहासिक कथाओं) के रूप में हैं। उनके लेखकों के नाम नष्ट हो चुके हैं। कुछ उदाहरण आगे दिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त जैन-लेखकों की अनेकों रचनाएँ हैं, जिनकी खोज

---

[१] देखिये—नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग १४ अङ्क ४ में वर्तमान लेखक का लिखा लेख, तथा 'विशाल-भारत' से दिसम्बर १६३३ के अङ्क में श्री० पूर्णचन्द्र नाहर का 'कुएँ भाँग' नामक लेख।

अभी बाकी है। यदि राजस्थान में लिखित गद्य की पूरी खोज हो जाय तो हिन्दी का यह कलङ्क सर्वथा धुल जाय कि उसका प्राचीन साहित्य गद्य से शून्य है। राजस्थान में गद्य-लेखन की अखण्ड परम्परा प्राचीन अपभ्रंश-काल से इस शताब्दी के आरम्भ तक बराबर जारी रही और यह गद्य अत्यन्त उच्च कोटि का है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

उत्तर-माध्यमिक काल

(१७००—१६००)

इस काल के अधिकांश भाग में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा, पर कोई महत्त्वपूर्ण गद्य-रचना उसमें नहीं हुई। अनेक टीकाकार इस काल में हुए जिन्होंने अपनी टीकाएँ ब्रज में लिखीं, पर उनकी भाषा बड़ी ही अव्यवस्थित और बेठिकाने की है। उनकी गणना साहित्य में नहीं की जा सकती।

इस काल में राजस्थानी अपनी अलग उन्नति करती रही। उसका एतत्कालीन गद्य-साहित्य बहुत विस्तृत है और बहुत-कुछ सुरक्षित भी है। यह साहित्य अधिकांश में ऐतिहासिक और कल्पनात्मक कथा-कहानियों वाला है। राजस्थानी-लेखकों ने ब्रजभाषा में भी बहुत-कुछ लिखा, और कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रज में या पूर्वी-राजस्थानी-मिश्रित ब्रज में लिखे हुए मिले हैं, जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अबुलफ़ज़ल की आईने-अकबरी का अनुवाद है। यह ७०० बड़े-बड़े पृष्ठों का वृहत् ग्रन्थ है।

इस काल के अन्तिम भाग में खड़ीबोली की ओर भी लोगों का ध्यान गया और कई अच्छी रचनाएँ उसमें हुईं। इनमें पहले महत्त्वपूर्ण लेखक मुन्शी सदासुखलाल हैं। उनके बाद इन्शाअल्ला ख़ाँ, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र हुए। लल्लूलाल और सदल मिश्र ने अँग्रेज़ों के आश्रय में

लिखा। इन्हीं के समकालीन राजा राममोहनराय हुए, जिन्होंने खड़ीबोली में भी रचना की और एक समाचार-पत्र भी निकाला। इसी समय में जुगलकिशोर शुक्ल ने हिन्दी का सब से पहला समाचार-पत्र कलकत्ते से निकाला। ईसाइयों ने भी खड़ीबोली को धर्म-प्रचार के लिए अपनाया और अपने धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद उसमें किया। शिक्षा का प्रचार होने से पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई और ईसाई-संस्थाओं ने एक-एक करके बहुत-सी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित कीं। यह क्रम इस काल के अन्त तक बराबर चलता रहा। इस प्रकार सदासुखलाल से जो गद्य-लेखन परम्परा आरम्भ हुई वह बराबर चलती गई। आगामी काल में छापेखाने के विशेष प्रचार से तथा शिक्षा-विभाग में हिन्दी का प्रवेश हो जाने से गद्य की और वेग से उन्नति होने लगी। हिन्दू-लेखकों का ध्यान अब तक खड़ीबोली की ओर कम था या यों कहिये नहीं था, पर शिक्षा विभाग में हिन्दी के प्रवेश ने तथा अन्यान्य प्रान्तों के पारस्परिक व्यवहार की आवश्यकता ने उनको भी खड़ीबोली की ओर खींच लिया। ब्रजभाषा पहले ही गद्य-लेखनोपयोगी नहीं हो सकी थी और राजस्थानी में प्रचुर गद्य होते हुए भी वह केवल राजस्थान और मध्यभारत के कुछ हिस्सों तक ही सीमित थी, इसलिए जब खड़ीबोली गद्य के लिये उठ खड़ी हुई तो उसके ग्रहण करने में कोई सङ्कोच या विरोध नहीं हुआ। धीरे-धीरे वह शिष्ट समाज की बोली हो गई, जिस कारण से (और चूँकि राजस्थानी जन-साधारण की बोली रह गई और धीरे-धीरे गँवारी समझी गई) वह राजस्थानी पर भी हावी हो गई और राजस्थानी विद्वानों और लेखकों ने भी खड़ीबोली को बड़े उत्साह के साथ अपना लिया।

हिन्दी के अनेक विद्वान् इतिहासकारों का मत है कि इस काल में

सम्बत् १८५०-६० के लगभग उपर्युक्त चार लेखकों द्वारा खड़ीबोली में गद्य-लेखन की प्रतिष्ठा तो हुई, पर उसकी अखण्ड परम्परा उस समय से नहीं चली। पर यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता। सम्बत् १८६० के बाद सम्बत् १९०० तक बराबर गद्य-रचनाएँ होती रही हैं, जिनमें से अनु-सन्धानों द्वारा बहुत-सी धीरे-धीरे प्रकाश में आ रही हैं। अवश्य ही हिन्दू-कवियों ने इस ओर कम ध्यान दिया, पर यह बात नहीं कि नहीं दिया। हिन्दी के प्रारम्भिक समाचार-पत्र भी इसी काल में निकले। छापेखाने का विशेष प्रचार न होने से यह परम्परा इस काल में उस वेग से अवश्य ही अग्रसर नहीं हो सकी, जैसी कि आगामी काल में हुई।

इस काल के कुछ महत्वपूर्ण गद्य-लेखकों और गद्य-रचनाओं का उल्लेख किया जाता है।

(१) ब्रजभाषा का गद्य

(१) मनोहरदास निरञ्जनी—इनका समय सम्बत् १७०७ के लगभग है। ये राजस्थान के निवासी थे। इन्होंने गद्य में कई पुस्तकें लिखी हैं।

(२) दामोदरदास दादूपन्थी—ये भी राजस्थान के रहने वाले थे। इन्होंने सम्बत् १७१५ के लगभग मारकण्डेय पुराण भाषा लिखा।

(३) सूरति मिश्र—इनका समय सम्बत् १७६७ के आस-पास है। कई टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने बेताल-पचीसी ब्रजभाषा के गद्य में लिखी।

(४) भोगल पुराण—सम्बत् १७७४ के पूर्व की एक रचना, जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति का हाल है।

(५) अग्रनारायणदास—इन्होंने सम्बत् १८२६ में भक्तमाल-प्रसङ्ग की रचना की।

(६) रामचरणदास—इनका रचना-काल सम्बत् १८४४ है।

(७) आईने-अकबरी की भाषा वचनिका—जयपुर-नरेश सवाई प्रताप-सिंह जी की आज्ञा से लाला हीरालाल ने सम्बत् १८५२ में लिखी (३५३ पन्ने)।

(८) हितोपदेश ग्रन्थ ग्वालेरी (ग्वालियर की) भाषा में—इसका रचना-काल सम्बत् १८६० से पूर्व का है (७८ पन्ने)।

(९) सरदार कवि—समय सम्बत् १९०० के आस-पास। इन्होंने बहुत-सी टीकाएँ लिखीं।

इनके अतिरिक्त टीकाकार, गद्य-लेखक बहुत-से हुए। बिहारी-सतसई पर ही दर्जनों टीकाएँ इस काल में लिखी गईं, पर उनका गद्य व्यावहारिक नहीं, अतः उनकी गणना साहित्य में नहीं हो सकती। इन टीकाओं का नामोल्लेख अनावश्यक है।

विशेष खोज करने से राजस्थान में इस काल के और भी अनेक ग्रन्थ ब्रज के गद्य में लिखे हुए मिलेंगे।

(२) राजस्थानी का गद्य

(१) मुहणोत नैणसीरी ख्यात—मुहणोत नैणसी का समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। यह ख्यात एक सुप्रसिद्ध बृहत् इतिहास-ग्रन्थ है, जिसमें उस समय तक का राजस्थान का इतिहास विस्तार से दिया है। इसकी भाषा बड़ी ही प्रौढ़ और प्राञ्जल है। राजस्थानी भाषा-शैली के लिए यह अत्यन्त प्रामाणिक रचना है। इसका हिन्दी-अनुवाद नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है।

(२) आसिया चारण वाँकीदासरी ऐतिहासिक बातां—बाँकीदास जी का समय सम्बत् १८३८ से १८६० तक है। ये जोधपुर के महाराज मानसिंह जी के दरबार में थे। इनकी इस पुस्तक में ऐतिहासिक कथाओं और कहानियों का बड़ा संग्रह है। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(२) जोधपुर राठोड़ाँरी ख्यात—अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना।

ये तीन नाम केवल उदाहरणार्थ दिये गये हैं। इनकी भाँति की सैकड़ों 'ख्यातें' और हज़ारों 'बातें' राजस्थानी गद्य में लिखी हुई मिलती हैं। सबका उल्लेख करना असम्भव है। जो सज्जन विशेष जानना चाहें, वे डाक्टर एल्० पी० टैसिटरी साहब के बनाये सूचीपत्र देखें।[1]

(३) खड़ीबोली का गद्य

(१) मण्डोवर का वर्णन—किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक द्वारा कोई १५०-२०० वर्ष पूर्व लिखित।

(२) चकत्ता की पातस्याही की परम्परा—किसी अज्ञात लेखक द्वारा सम्बत् १८१० के लगभग लिखिति। इसकी पृष्ठ-संख्या १०० बताई जाती है।[2]

(३) कुतुबदी साहिजादेरी बात—सम्बत् १८४७ के पूर्व की एक रचना। इसकी भाषा राजस्थानी मिश्रित खड़ीबोली है।

---

[1] Bardic and Historical Survey of Rajputana—Descriptive Catalogues of Bardic and Historical Manuscripts, ३ भाग, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ् बङ्गाल द्वारा प्रकाशित

[2] सम्मेलन-पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग २, अङ्क १, पृष्ठ ११

(४) मुन्शी सदासुखलाल नियाज (सं० १८०३—१८८१)—ये दिल्ली के रहने वाले थे। इन्होंने उर्दू-फ़ारसी में बहुत-सी पुस्तकें लिखीं और हिन्दी में श्रीमद्भागवत का स्वतन्त्र अनुवाद सुखसागर नाम से किया। इनकी भाषा काशी के आस-पास के तत्कालीन शिष्ट-समाज के बोलचाल की खड़ीबोली है, जैसी उधर के पुराने ढङ्ग के पंडित आदि लोग अब भी बोलते हैं। दिल्ली-निवासी होने पर भी उनकी रचनाओं में अरबी-फ़ारसी शब्द नहीं पाये जाते, पर संस्कृत के तत्सम शब्द स्थान-स्थान पर मिलते हैं। पण्डिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे कि प्रयाग और काशी के पण्डित बोलते चले आये हैं।

(५) इन्शाअल्ला खाँ—ये उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे और कई शाही दरबारों में रहे। सम्वत् १८५५ और १८६० के बीच में[1] इन्होंने हिन्दी में उदयभान-चरित या रानी केतकी की कहानी नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने बाहर की बोली (अरबी-फ़ारसी आदि) गँवारी (देहाती बोलियाँ) और भाखापन से रहित विशुद्ध हिन्दवी में अपनी कहानी लिखने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रयत्न करने पर भी कई स्थानों पर फ़ारसी ढङ्ग का वाक्य-विन्यास आ ही गया है। इनकी भाषा चटक-मटक वाली, मुहावरेदार और चलती है। उसमें उर्दू कवियों की-सी चुलबुलाहट पाई जाती है। लल्लूलाल की तरह सानुप्रास विराम (वाक्यों के अन्त में तुक मिलना) भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं।

(६) लल्लूलाल (सं०१८२०—१८८२)—ये आगरे के रहने वाले गुजराती

[1] अन्य मतानुसार १८५२ से १८५५ के बीच में

ब्राह्मण थे। बाद में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकर हुए। कॉलेज के अध्यक्ष जॉन गिलक्रिस्ट साहब की आज्ञा से इन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को लेकर प्रेम-सागर नामक ग्रन्थ लिखा। इस प्रेम-सागर का मुख्य आधार चतुर्भुजदास-कृत दशम स्कन्ध का पद्यानुवाद है, जो ब्रज में लिखा गया था। इसी कारण इनकी भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव बहुत है और उसमें स्थान-स्थान पर कृत्रिमता झलकती है। अरबी-फ़ारसी शब्दों को बचाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। जगह-जगह तुक-बन्दी पाई जाती है। इस प्रकार इनकी भाषा कथा-व्यासों की-सी हो गई। वह नित्य के व्यावहारिक प्रयोग के लिए उपयोगी नहीं सिद्ध हुई। इन्होंने प्रेम-सागर के अतिरिक्त और भी कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें अधिकांश उर्दू में हैं। ब्रजभाषा-गद्य में भी राजनीति नाम से हितोपदेश की कुछ कहानियों का अनुवाद, पद्य के आधार पर लिखा।

(७) सदल मिश्र—ये बिहार-निवासी थे। लल्लूलाल की भाँति इन्होंने भी फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियों की प्रेरणा से हिन्दी-गद्य में चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान लिखा। इसकी और प्रेमसागर की भाषा में बड़ा अन्तर है। साफ़-सुथरी न होने पर भी इसकी भाषा व्यवहारोपयोगी है। उसमें उर्दू शब्दों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया गया है और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है, जिससे भाषा में जान आ गई है। ब्रज के प्रयोग भी कई स्थानों पर आये हैं और कहीं-कहीं पूर्वी की झलक भी मिलती है, जो इनके लिए स्वाभाविक ही थी।

ये चार लेखक आधुनिक खड़ीबोली-गद्य के जन्मदाता समझे जाते हैं। इनमें भी मुन्शी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा आधुनिक भाषा के अधिक निकट है। उसमें आधुनिक गद्य का पूर्वाभास मिलता है। लल्लूलाल की भाषा कृत्रिमता-पूर्ण है, क्योंकि वह मुख्यतया पद्य का गद्यानुवाद मात्र है। इनकी और इन्शाअल्लाखाँ की भाषा काव्य-रचना या कल्पनात्मक कहानियों के लेखन के उपयुक्त हो सकती है, पर व्यवहारोपयोगी नहीं।

(८) बाइबिल का अनुवाद—ईसाइयों ने सम्बत् १८६६ में बाइबिल के नये धर्मनियम (New Testament) का और सम्बत् १८७५ में पूरी बाइबिल का अनुवाद प्रकाशित किया। इस अनुवाद में ठेठ बोलचाल के हिन्दी शब्दों को विशेष रूप से स्थान दिया गया है, पर उर्दू शब्द बचाये गये हैं। उसकी भाषा पर प्रेमसागर का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव कहीं-कहीं पाया जाता है।

इसके बाद ईसाइयों द्वारा पुस्तकें और पुस्तिकाएँ बराबर निकलती रहीं। शिक्षालयों में पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता होने पर इन्होंने बहुत-सी ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करवाईं।

(९) गोरा-बादल की बात का गद्यानुवाद—सम्बत् १८८१ के कुछ काल पूर्व सम्भवतः किसी अँग्रेज़ अफ़सर की प्रेरणा से जटमल की गोरा-बादल की बात का गद्यानुवाद तय्यार करवाया गया। इसका लेखक कोई मध्यभारत या राजस्थान का निवासी था, जिससे इस अनुवाद की भाषा में राजस्थानी का प्रभाव बहुत पाया जाता है। हिन्दी के ऐतिहासिकों ने भ्रमवश इसे सत्रहवीं शताब्दी की रचना मान रक्खा है। इसकी भाषा बोलचाल की है और उसमें उर्दू शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

(१०) राजा राममोहनराय—ये सुप्रसिद्ध बङ्गीय नेता हैं। कहते हैं कि इन्होंने सम्वत् १८७२ के लगभग वेदान्त-सूत्रों का हिन्दी-अनुवाद लिख कर प्रकाशित करवाया था। क्षितीश बाबू ने इस ग्रन्थ की एक प्रति मिर्जापुर में किसी गृहस्थ के यहाँ देखी थी। इनके लिखे हुए हिन्दी-गद्य के और भी कई नमूने मिलते हैं। भाषा पर बँगला और राजस्थानी का प्रभाव पाया जाता है और वह पण्डिताऊ ढङ्ग की है। उसमें तत्सम शब्दों की भरमार है, जिसका कारण विषय की दार्शनिकता है। राजा साहब ने सम्वत् १८८६ में बङ्गदूत नाम का एक समाचार-पत्र भी हिन्दी में प्रकाशित करना आरम्भ किया था।

(११) जुगलकिशोर शुक्ल—ये कानपुर-निवासी थे और कलकत्ते में रहते थे। सम्वत् १८८३ में इन्होंने कलकत्ते से उदन्त-मार्त्तण्ड नाम का समाचार-पत्र निकाला, जो हिन्दी का सर्व-प्रथम समाचार-पत्र है। इसकी भाषा पर भी कहीं-कहीं बँगला का प्रभाव है। उर्दू और अँग्रेज़ी के प्रचलित बोलचाल के शब्द उसमें खूब प्रयुक्त हुए हैं।

कतिपय भ्रान्तियों का निवारण

आधुनिक कालीन गद्य का इतिहास आरम्भ करने के पूर्व यहाँ पर दो-एक भ्रान्तियों का निराकरण आवश्यक है। कुछ समय पूर्व लोगों में यह धारणा प्रचलित थी कि खड़ीबोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा से हुई है। सौभाग्यवश यह भ्रान्ति दूर हो रही है। ऐतिहासिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि खड़ीबोली ब्रजभाषा से स्वतन्त्र बोली थी और है। खड़ी-बोली भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि ब्रज। खड़ीबोली में लिखी हुई कई रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और कई लेखकों के नाम ज्ञात हुए हैं, जिनमें

अमीर खुसरो का समय सम्बत् १३१२ से १३८१ तक है। इससे भो पूर्व विक्रम की नवीं शताब्दी में लिखित कुवलयमाला नामक प्राकृत भाषा की पुस्तक में 'मेरे तेरे आओ' यह मध्यदेश की भाषा का नमूना दिया गया है, जिससे खड़ीबोली की प्राचीनता सिद्ध होती है। हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में आकारान्त शब्दों के रूप खास करके नोट किये गये हैं, जो खड़ीबोली की विशेषता है (ब्रज और राजस्थानी में ये शब्द ओकारान्त हो जाते हैं)।

दूसरी भ्रान्ति यह फैली हुई है कि आधुनिक हिन्दी-गद्य की भाषा उर्दू से अरबी-फ़ारसी शब्दों को निकाल कर बनाई गई है। यह कथन सर्वथा निराधार है। हम ऊपर देख चुके हैं कि खड़ीबोली बहुत प्राचीन भाषा है। वह आरम्भ में दिल्ली-मेरठ के प्रान्त की भाषा थी। मुसलमानों ने यहाँ आने पर उसे अपनाया और वे उसमें रचनाएँ करने लगे। पहले उन रचनाओं की भाषा बोलचाल की होती थी और ज्यादातर शब्द ठेठ हिन्दी के होते थे। बाद में उन्होंने उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरना प्रारम्भ किया, जिससे उर्दू का विकास हुआ। मुसलमानों के प्रसार के साथ-साथ खड़ीबोली का भी प्रसार हुआ। इस खड़ीबोली में राज्य-शासन से सम्बन्ध रखने वाले अरबी-फ़ारसी शब्द भी रहे होंगे, जो धीरे-धीरे बोलचाल के शब्द बन गये। धीरे-धीरे खड़ीबोली उत्तरी भारत की राष्ट्र-भाषा-सी बन गई और शिष्ट-समुदाय के परस्पर के व्यवहार के प्रयोग में आने लगी। पर यह रूप उर्दू-साहित्य की अरबी-फ़ारसी से लदी हुई भाषा से भिन्न था। उसमें केवल बोलचाल के अत्यन्त प्रचलित विदेशी शब्द ही रहे होंगे और पढ़े-लिखे पण्डितों की बोली संस्कृत के तत्सम

शब्द उसी प्रकार पाये जाते होंगे, जिस प्रकार पढ़े-लिखे मुसलमानों की बोली में विदेशी शब्द। साधारण बनिये-व्यापारी आदि की भाषा में दोनों का ही अभाव रहा होगा। यही बोली आगे चल कर हिन्दी-गद्य की भाषा हुई।

इसी प्रकार यह कथन भी भ्रान्तिपूर्ण है कि खड़ीबोली-गद्य की उत्पत्ति अँग्रेज़ों के आश्रय में हुई। अँग्रेजों के आश्रय में रहकर लिखने वाले सर्वप्रथम लेखक सदल मिश्र और लल्लूलाल थे। इनमें सदल मिश्र की रचना का तो प्रचार नहीं हुआ और न उसका विशेष प्रभाव ही पड़ा। लल्लूलाल की भाषा में आधुनिक गद्य का पूर्वाभास नहीं मिलता। उनकी भाषा व्यवहारोपयोगी न थी—वह दैनिक जीवन की बातों के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुई। उसका कोई प्रभाव, कुछ काल बाद होने वाले लेखकों की भाषा पर, नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त उक्त दोनों लेखकों के पूर्व ही सदासुखलाल और इन्शाअल्लाख़ाँ खड़ी-बोली में रचना कर चुके थे। चकत्ता की पातसाही की परम्परा नामक एक और ग्रन्थ लगभग इसी समय स्वतन्त्ररूप से लिखा गया था। इससे पहले की रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। अँग्रेज़ी प्रभाव से रहित सुदूर राजस्थान में 'मण्डोर का वर्णन' नामक रचना खड़ीबोली की प्राप्त हुई है। लल्लूलाल के कुछ ही समय बाद राममोहनराय और जुगलकिशोर शुक्ल हुए, जिनका अँग्रेज़ों से कोई सम्बन्ध न था और जिन्होंने स्वतन्त्ररूप से समाचार-पत्र निकाले। उनकी भाषा और लल्लूलाल की भाषा में कोसों का अन्तर है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि न तो खड़ीबोली के निर्माता लल्लूलाल ही थे और न अँग्रेज़ों के आश्रय में ही उसका निर्माण हुआ।

आधुनिक काल

(१६०० के बाद)

इस काल में गद्य का प्रचार द्रुत वेग से बढ़ा। गद्य-लेखन-शैली अनिश्चितता से निकल कर स्थिरता को प्राप्त हुई, अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ पद्य की अपेक्षा गद्य में होने लगीं। इस काल में गद्य का इतना प्रसार और प्राधान्य हुआ कि विद्वानों ने इस काल का नाम ही गद्य-युग रख दिया है।

इस काल में खड़ीबोली साहित्य की प्रधान भाषा होगई। आरम्भ के ५०-६० वर्षों तक पद्य में ब्रज अपना प्राधान्य बनाये रही, पर अन्त में उसे वहाँ से भी अपदस्थ होना पड़ा। आजकल ब्रज में रचना करने वाले कवि बिरले ही मिलते हैं। राजस्थानी साहित्य-रचना भी इस काल में ह्रासोन्मुख होने लगी। उसमें बहुत कम महत्त्वपूर्ण पुस्तकें, गद्य अथवा पद्य में, लिखी गईं। खड़ीबोली का मुख्य प्रचार शिक्षालयों द्वारा हुआ और राजस्थान में शिक्षा संस्थाएँ जब खोली गईं, तो उनमें राजस्थानी की जगह खड़ीबोली को स्थान दिया गया। धीरे-धीरे राजस्थानी केवल बोल-चाल की भाषा मात्र रह गई और शिक्षित लोग उसे गँवारी बोली समझने लगे। परन्तु यह बात नहीं कि साहित्य-रचना में राजस्थान पीछे रहा हो। राजस्थानी की जगह खड़ीबोली में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण राजस्थान में हुआ। खड़ीबोली ने इस काल में आश्चर्य-जनक उन्नति की। जिसे कुछ ही समय पहले लोग एक गँवारी बोली समझते थे, आज वह समस्त भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा बनने जा रही है। सुदूरवर्ती मद्रास, उत्कल और आसाम जैसे प्रदेशों में उसका प्रवेश हो गया है।

इस काल के पूर्वार्ध में हिन्दी-गद्य का पुनरुत्थान बड़े उत्साह के साथ हुआ। एक के बाद दूसरे लेखक बड़े उत्साह के साथ साहित्य-क्षेत्र में उतर पड़े। गद्य-सरिता बड़े वेग से उमड़ चली। जल में मलिनताएँ भी थीं, पर प्रवाह बड़ा तेज था। धीरे-धीरे मैदान में आने पर वेग हलका हुआ और मलिनताएँ भी नीचे बैठती गईं। पत्र-साहित्य इस जमाने की विशेषता है। अधिकांश साहित्य-सेवी अपने साथ एक-एक पत्र को भी लाये। जो नहीं लाये वे भी इन्हीं में से किसी पत्र में लिखने लगे। 'सरस्वती' के निकलने तक पत्र-पत्रिकाओं का बहुत कुछ यही क्रम जारी रहा।

इस काल के उत्तरार्ध में भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ। लेखकों की बढ़ती हुई उच्छृङ्खलता को करारा धक्का लगा। 'सरस्वती' ने निकल कर अन्यान्य पत्रिकाओं को दबा दिया। उसने आदर्श लेखन-शैली लेखकों के आगे उपस्थित की। पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग और सङ्घर्ष से विषय-विस्तार हुआ और नये-नये विषयों पर रचनाएँ होने लगीं। आरम्भ में अनुवादों का बाहुल्य हुआ, पर आगे चल कर अच्छे-अच्छे मौलिक लेखक भी उत्पन्न हुए। हिन्दी के नवीन-साहित्य के निर्माण का आरम्भ अभी हुआ है। इस काल में नागरी-प्रचारिणी सभा हिन्दी की सेवा करने वाली प्रमुख संस्था रही। उसने प्राचीन साहित्य के उद्धार और नवीन साहित्य के निर्माण में बहुत बड़ा कार्य किया है। आगे चल कर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जन्म हुआ, पर परीक्षाओं इत्यादि के द्वारा हिन्दी-प्रचार करने के अतिरिक्त वह कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाया। हिन्दुस्तानी एकेडेमी आधुनिक संस्था है और उसने कई महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

पत्र-साहित्य में सम्बत् १९७५ तक 'सरस्वती' की ही प्रधानता रही। मर्यादा और प्रभा भी अच्छी निकलीं। समाचार-पत्रों में भारतमित्र और प्रताप का खूब प्रचार था। नवीन युग में विशालभारत, सरस्वती, विश्व-मित्र, हंस, माधुरी, सुधा, गङ्गा, बीणा आदि अच्छी पत्रिकाएँ निकल रही हैं। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका और हिन्दुस्तानी, खोज सम्बन्धी पत्रिकाएँ हैं। आज, प्रताप, अर्जुन, साप्ताहिक प्रताप, जागरण आदि प्रमुख समाचार-पत्र हैं। त्यागभूमि और पाक्षिक जागरण नामक दो उच्च-कोटि की पत्रिकाएँ बहुत अच्छी निकालीं, पर चल न सकीं।

इस उत्तरार्ध भाग में हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता दिनोंदिन बढ़ती ही गई और विदेशी शब्दों का प्रयोग बिरल हो चला है। अनावश्यक संस्कृत शब्दों की भरमार से हिन्दी के ठेठ शब्दों का भण्डार धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। शैली की दृष्टि से उत्तम मुहावरेदार भाषा लिखनेवाले लेखक अभी बहुत कम हैं। मुहावरा भाषा का प्राण है, इसलिए हिन्दी को सजीव बनाने के लिए यथासम्भव ठेठ शब्दों और मुहावरों का प्रयोग नितान्त वाञ्छनीय है।

हिन्दी-गद्य-विकास के इस आधुनिक काल को चार उपविभागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) आरम्भिक युग—सम्बत् १९०० से १९२५ तक
(२) हरिश्चन्द्र युग—सम्बत् १९२५ से १९५५ तक
(३) द्विवेदी युग—सम्बत् १९५५ से १९७५ तक
(४) नवीन युग—सम्बत् १९७५ से अब तक

आरम्भिक युग
(१६००—१६२५)

इस युग में राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, स्वामी दयानन्द, नवीनचन्द्र राय और श्रद्धानन्द फिल्लौरी आदि सुप्रसिद्ध हिन्दी-लेखक हुए। सम्वत् १६११ में भारत-मन्त्री सर चार्ल्स वुड ने अपनी शिक्षा-सम्बन्धी योजना भारतवर्ष में भेजी और उसके अनुसार शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। सम्वत् १६१३ में राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर नियुक्त हुए। उस समय अदालतों की भाषा उर्दू थी। शिक्षा-विभाग ने उसे ही स्कूलों में स्थान दिया। राजा साहब ने हिन्दी के लिए प्रयत्न किया और मुसलमानों के घोर विरोध के बाद उसे भी स्थान मिला। राजा साहब आरम्भ से ही हिन्दी के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने सम्वत् १६०२ में बनारस अख़बार नाम का समाचार-पत्र हिन्दी में निकाला। उस समय उर्दू अदालतों की भाषा होने से पढ़े-लिखे लोग ज्यादातर उर्दूदाँ ही होते थे, इसलिए इस पत्र की भाषा बहुत-कुछ उर्दू ही थी। शिक्षा-विभाग में हिन्दी को स्थान मिलने से पाठ्यपुस्तकों की आवश्यकता हुई। राजा साहब ने स्वयं बहुत सी लिखीं और दूसरों से भी लिखवाईं। उनकी रचनाओं की भाषा आरम्भ में बोलचाल की हिन्दी होती थी, जिसमें मामूली उर्दू शब्दों का भी प्रयोग होता था, परन्तु धीरे-धीरे उर्दू शब्दों का बाहुल्य होने लगा; इनकी अन्तिम रचनाएँ इसी कारण हिन्दी की अपेक्षा उर्दू के अधिक निकट हैं।

राजा लक्ष्मणसिंह ने इस उर्दू से भरी शैली का विरोध किया और वे विशुद्ध शैली का पक्ष लेकर आगे आये। सम्वत् १६१८ में उन्होंने प्रजा-हितैषी नामक पत्र निकाला और अगले ही साल शकुन्तला का अनुवाद

विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित किया, जिसमें ठेठ शब्दों के साथ-साथ कहीं-कहीं सरल तत्सम शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। विदेशी शब्दों को बचाने का उन्होंने विशेष रूप से प्रयत्न किया।

स्वामी दयानन्द का हिन्दी पर बड़ा ऋण है। मातृभाषा हिन्दी न होते हुए भी उन्होंने अपनी रचनाएँ हिन्दी में लिखीं और अपने अनुयायियों के लिये हिन्दी पढ़ना आवश्यक कर दिया। यही कारण है कि आज पञ्जाब जैसे उर्दू के प्रबल गढ़ में भी हिन्दी का प्रचार है। स्वामीजी की शैली विशुद्ध है और विषयानुसार संस्कृत शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उर्दू शब्द प्रायः नहीं आये हैं।

नवीनचन्द्र राय ब्रह्मसमाजी थे और पञ्जाब में रहते थे। ये समाज-सुधारक और स्त्री-शिक्षा के बड़े पक्षपाती थे। इन्होंने ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों पर और सामाजिक विषयों पर कई पुस्तकें लिखीं, कई पत्रिकाएँ भी निकालीं, जिनमें एक का नाम ज्ञान-प्रदीपिका था। इनके कारण पञ्जाब में हिन्दी-प्रचार होने में बड़ी सहायता मिली। इनकी भाषा भी विशुद्ध हिन्दी थी।

श्रद्धाराम फिल्लौरी पञ्जाब-निवासी थे। ये बड़े भारी कथावाचक और व्याख्याता थे। इनकी कथाओं आदि का जनता पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता था। ये बड़े स्वतन्त्र विचारों के मनुष्य थे। इन्होंने कई धार्मिक पुस्तकें जोरदार भाषा में लिखीं।

भारतेन्दु युग
(१९२५—१९५५)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी-गद्य के वास्तविक जन्मदाता हैं। उनके कार्य-क्षेत्र में आते ही हिन्दी-गद्य की समुन्नति का युग प्रारम्भ

हुआ। साहित्य और भाषा दोनों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी-गद्य में अभी तक छोटी-मोटी साधारण विशेषत: पाठशालोपयोगी पुस्तकों की ही रचना विशेष करके हुई थी। परन्तु भारतेन्दु ने साहित्य के विविध अङ्गों की ओर ध्यान देकर सभी से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ कीं। सब से बड़ा काम तो उन्होंने यह किया कि हिन्दी-साहित्य को नवीन मार्ग पर ला खड़ा किया और 'उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आये। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की बिचार-धारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमङ्गें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और बिचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था।' वह अभी अपने पुराने ही रास्ते पर था और उसमें वही पुराने ढंग की शृङ्गार, भक्ति आदि की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। कभी-कभी कोई शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक भी निकल जाती थी 'पर देशकाल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ था।' भारतेन्दु ने हिन्दी-साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त किया।

गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उन्होंने उसे एक बहुत ही चलता हुआ, मधुर और स्वच्छ रूप दिया। भाषा का निखरा रूप भारतेन्दु के साथ ही प्रकट हुआ। उनकी भाषा में न तो लल्लूलाल का ब्रजभाखापन है, न सदलमिश्र का पूर्वीपन, और न मुन्शी सदासुख का पण्डिताऊपन। इसी प्रकार वे न राजा शिवप्रसाद की भांति उर्दूपन के पक्षपाती थे और न राजा लक्ष्मणसिंह की भांति विशुद्धपन के। इन सब 'पनों' से उनकी भाषा बची हुई है। उन्होंने देख लिया कि शिवप्रसाद की भाषा जनता की भाषा से बहुत दूर है और इसी प्रकार लक्ष्मणसिंह की भाषा

व्यावहारिकता से परे है। प्रतिदिन प्रचलित और लोगों की जबान पर नाचने वाले अरबी-फ़ारसी शब्दों को एकदम छोड़ देना भाषा की सञ्चित शक्ति को घटाना है। हास्य और व्यंग्यात्मक शैली में ऐसे शब्द कितने उपयोगी होते हैं, इन्हीं कारणों से उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। उनकी भाषा में संस्कृत के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, पर यथासम्भव व्यावहारिक और तद्भव रूप में। इसी तरह बोलचाल के अरबी-फ़ारसी शब्द भी उन्होंने बचाये नहीं, यद्यपि उनका प्रयोग तत्सम रूप में नहीं हुआ है। संस्कृत शब्दों के होते हुए भी उनकी भाषा सुबोध है और अरबी-फ़ारसी शब्दों के होते हुए भी वह उर्दू नहीं जान पड़ती।

भारतेन्दु जी की भाषा व्यवस्थित है। उसमें ऐसे वाक्य नहीं मिलते जिनके विभिन्न उपवाक्य या वाक्यांश बराबर जुड़े न हों। इसके लिये उन्होंने समुच्चयबोधक अव्ययों का उपयुक्त व्यवहार किया है। विराम-चिह्नों का उपयोग भी पहले की अपेक्षा अधिक सुचारु हुआ है।

भारतेन्दु ने लेखन-शैली में हास्य और व्यङ्ग का पुट दिया, जो आगे चल कर भारतेन्दु-काल के समस्त लेखकों की एक मुख्य विशेषता हो गई। मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों आदि के समुचित प्रयोग से उनकी शैली निखर उठी है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म सुप्रसिद्ध सेठ अमीरचन्द के घराने में सम्वत् १९०७ में काशी में हुआ। उनके पिता गोपालदास थे, जो स्वयं हिन्दी के अच्छे लेखक थे। उनका जरासन्ध-बध काव्य और नहुष नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। हरिश्चन्द्र छोटी अवस्था से ही प्रखर बुद्धि वाले और प्रतिभाशाली थे। पाँच ही वर्ष की उम्र में उन्होंने एक दोहा बना कर अपने पिता को सुनाया था। माता-पिता का सुख वे अधिक न भोग

सके। उनकी शिक्षा भी भली-भाँति नहीं हो पाई। वे अत्यन्त स्वतन्त्र प्रकृति के पुरुष थे। विचारों के उदार थे। अपव्ययी भी बहुत थे, जिससे अन्तिम दिनों में कष्ट भी उठाना पड़ा।

सम्बत् १६२५ में भारतेन्दु ने विद्यासुन्दर नामक एक बँगला नाटक का अनुवाद किया। उसके बाद उनकी साहित्य सेवा बराबर जारी रही। उसी वर्ष कवि-वचन-सुधा नामक पत्र निकाला, जिसे वे कोई साढ़े सात वर्ष तक निकालते रहे। पहिले इसमें कविताएँ छपती थीं, पर बाद में गद्य-लेख भी छपने लगे।

सम्बत् १६३० में उन्होंने हरिश्चन्द्र मेगज़ीन नाम की दूसरी पत्रिका निकाली, जिसका नाम बाद में हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका हो गया। हिन्दी-गद्य का परिष्कृत रूप सबसे पहले इसी पत्रिका में प्रकट हुआ। उनके प्रोत्साहन से बहुत से लोग हिन्दी में लिखने लगे और हिन्दी-लेखकों का एक खासा मण्डल तैयार हो गया। सम्बत् १६३१ में भारतेन्दु ने बालबोधिनी नामक पत्रिका स्त्री-शिक्षा के प्रचार के वास्ते निकाली, पर वह अधिक दिन नहीं चली।

सम्बत् १६३० में भारतेन्दु ने अपना सबसे पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा। इसके बाद उन्होंने और भी कई नाटक बनाये, जिनमें सत्य-हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी आदि उल्लेखनीय हैं। अनुवादित नाटकों में पाखण्ड-विडम्बन, कर्पूरमञ्जरी, अन्धेर-नगरी और मुद्राराक्षस बहुत प्रसिद्ध हैं। नाटकों के अतिरिक्त इतिहास सम्बन्धी पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं।

गद्य की भाँति पद्य में उन्होंने युग-परिवर्तन किया। प्राचीन ढङ्ग की रसपूर्ण कविता लिखने के साथ ही साथ आधुनिक भावों से पूर्ण कविता

भी रची। प्राचीन और नवीन का बड़ा ही सुन्दर सामञ्जस्य भारतेन्दु की कला में पाया जाता है।

भारतेन्दु जी बड़े भारी सुधारक और देशप्रेमी थे। उनका देशप्रेम उनकी रचनाओं में सर्वत्र पाया जाता है और वही उनकी रचनाओं का व्यापक भाव है।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, भारतेन्दुजी के प्रोत्साहन से अनेक लोग हिन्दी में लिखने लगे और हिन्दी-लेखकों का एक खासा मण्डल तय्यार हो गया। एक-एक करके नवीन लेखक कार्यक्षेत्र में उतर पड़े और हिन्दी-गद्य द्रुत वेग से आगे की ओर बढ़ चला। इन नवीन लेखकों का उत्साह अपूर्व था। सभी बड़े जिन्दादिल थे। उनकी भाषा में हास्य-विनोद की अच्छी बहार रहती थी। अधिकांश लेखक अपने साथ एक-एक पत्र-पत्रिका भी लाये। जो नहीं लाये वे दूसरों के पत्र में लिखने लगे। विषय-विविधता बढ़ी, पर अधिकांश लोगों ने निबन्ध ही लिखे। अनुवादों, विशेषतः बँगला के उपन्यासों के अनुवादों, का भी आरम्भ हुआ। इस काल के कुछ बहुत प्रसिद्ध लेखक इस प्रकार हैं—

१—पत्रकार—और निबन्ध लेखक—

कात्तिकप्रसाद खत्री, केशवराम भट्ट, लाला श्रीनिवासदास, तोताराम, गोपीनाथ, बालकृष्ण भट्ट, दुर्गाप्रसाद मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' अम्बिकादत्त व्यास, हरिश्चन्द्र उपाध्याय, प्रतापनारायण मिश्र, रामकृष्ण वर्मा, राधाचरण गोस्वामी, मदनमोहन मालवीय, राजा रामपालसिंह, बालमुकन्द गुप्त।

२—नाटककार—श्रीनिवासदास, तोताराम, केशवराम।

३—उपन्यास-कहानी लेखक—श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहनसिंह।

४—साहित्य के इतिहास-लेखक—शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन (अँग्रेज़ी में)।

कार्त्तिकप्रसाद खत्री ने सबसे पहले अच्छा पत्र निकालने का प्रयत्न किया। उन्होंने कलकत्ते से सम्बत् १९२८ में हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश नामक समाचार-पत्र और प्रेमी-विलासिनी नामक साहित्यिक पत्रिका निकालना आरम्भ किया। सम्बत् १९३४ में कई सज्जनों के उद्योग से भारत-मित्र नाम का पत्र निकाला, जिसकी बड़ी धूम रही और जो अभी तक चल रहा है। आगे चल कर बालमुकुन्द गुप्त, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और लक्ष्मणनारायण गर्दे आदि सुप्रसिद्ध विद्वान् इसके सम्पादक रहे। पञ्जाब में पं० गोपीनाथ के उद्योग से मित्रविलास नामक पत्र निकला, जिसकी भाषा बड़ी सुन्दर होती थी। सम्बत् १९४० में अवध के ताल्लुकेदार राजा रामपालसिंह ने इङ्गलैण्ड से हिन्दोस्थान नामक पत्र निकाला, जिसमें हिन्दी और अँग्रेज़ी दोनों रहती थीं। सम्बत् १९४२ से यह भारत में आगया और हिन्दी दैनिक होकर निकला। इसके सम्पादकों में मदनमोहन मालवीय, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त जैसे लोग रह चुके हैं। सम्बत् १९४४ में रामकृष्ण वर्मा ने काशी से भारत-जीवन नामक पत्र निकाला, जिसकी बहुत प्रसिद्धि हुई। इस काल में राजस्थान से सज्जनकीर्तिसुधाकर, देशहितैषी आदि कई एक पत्र निकले।

साहित्यिक पत्रों में बालकृष्ण भट्ट का हिन्दी-प्रदीप, बदरीनारायण चौधरी की आनन्द-कादम्बिनी और नागरी-नीरद, प्रतापनारायण मिश्र का ब्राह्मण और अम्बिकादत्त व्यास का पीयूष-प्रवाह उल्लेखनीय हैं।

इस युग के गद्य-लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, हरिश्चन्द्र उपाध्याय, प्रतापनारायण मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहनसिंह और लाला श्रीनिवासदास के नाम उल्लेख के योग्य हैं।

बालकृष्ण भट्ट (१६०१ से १६७१) ने सम्बत् १६३१ में हिन्दी-प्रदीप पत्र निकाला, जिसके लगभग ३३ वर्ष के जीवन में उन्होंने विविध-विषयक लेख लिखे। उनकी लेखन-शैली में व्यक्तित्व की छाप पाई जाती है। साधारण विषयों पर भी उन्होंने बड़े सुन्दर लेख लिखे हैं। मुहावरों का प्रयोग बहुत समीचीन हुआ है, जिससे भाषा में रोचकता और आकर्षण उत्पन्न हो गये हैं। उनकी भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग हुआ है और वह भी तत्सम-रूप में। इसी प्रकार अँग्रेज़ी शब्द भी स्थान-स्थान पर आये हैं। हिन्दी में गद्य-काव्य के जन्मदाता भी भट्टजी ही माने जाते हैं। उनके आँसू और चन्द्रोदय नामक निबन्ध गद्यकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं।

प्रतापनारायण मिश्र (१६१३-१६५१) भी भट्ट जी की भाँति अच्छे निबन्ध-लेखक हैं। उन्होंने भी उसी प्रकार साधारण विषयों पर सुन्दर रोचक-निबन्ध लिखे हैं। उनकी रचनाओं में आत्मीयता का भाव विशेष पाया जाता है। वे केवल सुशिक्षितों के लिए ही लिखने वाले नहीं थे, किन्तु साधारण पाठकों तक पहुंचने वाले थे। भट्टजी की रचनाएँ कुछ विशेष नागरिकता लिए हुए हैं और मिश्रजी की रचनाएँ ग्रामीणता लिए हुए। मिश्रजी में विनोद की मात्रा अधिक है और उनका व्यंग्य अधिक चुभने वाला है। इनकी शैली में मुहावरों और देहाती कहावतों का खूब प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं तो मुहावरों की अपूर्व झड़ी लग गई है (बात नामक निबन्ध देखो)। लेखों के शीर्षक भी आकर्षक और कभी-कभी पूरे-के-पूरे मुहावरों में ही होते थे। इनका कहने का ढङ्ग बड़ा

ही रोचक है, उसमें वार्तालाप का सा आनन्द आता है। पर भाषा का रूप अस्थिर है। कहीं-कहीं भावों को समझने में व्याघात पहुँचता है। व्याकरण-विषयक व्यतिक्रम भी बहुत मिलते हैं।

बदरीनारायण चौधरी (१६१२-१६८०) की शैली चमत्कार और अलङ्कारमयी है। उन्होंने भाषा को काव्योचित बनाने का प्रयास किया। उनके वाक्य बड़े लम्बे और प्रायः अनुप्रासपूर्ण होते थे। साधारण बात को भी बड़े विस्तार से कहते थे। इससे उनकी शैली कठिन होगई है और अव्यावहारिक जान पड़ती है। फिर भी इसका माधुर्य निराला है।

हरिश्चन्द्र उपाध्याय प्रेमघनजी के अनुज थे। ये भी बहुत अच्छे निबन्ध-लेखक थे। इनकी भाषा व्याकरण और गठन की दृष्टि से अनेक स्थानों पर त्रुटिपूर्ण है।

गोविन्दनारायण मिश्र की शैली प्रेमघन की शैली से भी आगे बढ़ी हुई है। लोगों ने उन्हें हिन्दी का बाण कहा है। उनकी भाषा में बड़े-बड़े समासों वाली पदावली की छटा खूब पाई जाती है। श्रुतिमधुर होने पर भी वह व्यावहारिकता से कोसों दूर है। वाक्य इतने लम्बे हो जाते हैं कि उनके विभिन्न अंशों का सम्बन्ध स्मृति में रखना असम्भव हो जाता है।

जगमोहनसिंह की शैली काव्योपयोगी है और मिश्रजी की शैली से अधिक आकर्षक है। इनकी प्रसिद्ध रचना श्यामा-स्वप्न है, जिसमें प्रकृति-वर्णन और गद्य-काव्य की अच्छी बहार है। बाण का प्रभाव इनकी शैली पर भी यथेष्ट पाया जाता है। वाक्य-रचना संस्कृत शैली से प्रभावित है और कहीं-कहीं वाक्य लम्बे होने से वाक्याङ्गों का परस्पर सम्बन्ध सहज ही स्पष्ट नहीं होता।

श्रीनिवासदास की शैली व्यावहारिक है। इनकी दो रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं–(१) परीक्षागुरु (उपन्यास) और (२) रणधीर-प्रेममोहिनी नाटक। इनकी भाषा प्रौढ़ है। उसमें प्रचलित उर्दू शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं प्रान्तीयता भी झलकती है।

द्विवेदी-युग

(१९५५-१९७५)

यह युग महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'सरस्वती' का युग है। इस युग के आरम्भ में कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, जिनसे हिन्दी की उन्नति को प्रोत्साहन मिला। सम्बत १९५१ में श्यामसुन्दरदास, रामनारायण मिश्र और शिवकुमारसिंह ने नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास इसके प्रथम सभापति हुए। इस सभा के द्वारा हिन्दी का महान् हित-साधन हुआ। अपनी स्थापना के बाद ही उसने संयुक्त-प्रान्त की अदालतों में नागरी अक्षरों के प्रचार का आन्दोलन उठाया। महामना मदनमोहन मालवीय इस आन्दोलन के प्राण थे। फलस्वरूप सम्बत १९५७ में सरकार ने अदालतों के लिए नागरी अक्षरों को स्वीकार कर लिया। अन्यान्य हिन्दू-राज्यों में भी अभी तक फ़ारसी या उर्दू का बोलबाला था, पर अब धीरे-धीरे उन्होंने भी हिन्दी और नागरी को स्थान दिया। इसके कुछ ही पूर्व हिन्दू हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के लिए सरकार ने नागरी-प्रचारिणी सभा को आर्थिक सहायता देना मंजूर किया। इसी समय सभा ने हिन्दी की उच्चकोटि की मासिक पत्रिका निकालने का विचार किया और फलस्वरूप 'सरस्वती' का जन्म हुआ। प्रयाग के इण्डियन प्रेस ने इसे प्रकाशित करने का भार लिया। 'सरस्वती' का भीतरी और बाहरी रङ्ग-रूप अब तक के पत्रों से सर्वथा

निराला था और वह बड़ी धूमधाम से चल निकली। आगे चल कर महावीरप्रसाद द्विवेदी उसके सम्पादक हुए और तब से पन्द्रह-बीस वर्ष तक हिन्दी संसार में वह सर्वश्रेष्ठ पत्रिका रही। उसकी भाषा और लेखन-शैली सदा आदर्श मानी जाती रही।

हरिश्चन्द्र-युग में हिन्दी की गद्य-शैली स्थिर तो हो चुकी थी, पर अभी उसमें अनेक त्रुटियाँ थीं। व्याकरण और गठन की दृष्टि से भाषा परिष्कृत नहीं हो पाई थी। विराम आदि का भी बराबर ध्यान नहीं रखा जाता था। द्विवेदी जी जैसे व्याकरणवेत्ता और प्रामाणिक विद्वान् के हाथों व्याकरण की शुद्धता और भाषा के परिष्कार का काम बड़े सुन्दर रूप से सम्पन्न हुआ। द्विवेदी जी ने लेखकों की भाषा सम्बन्धी निरंकुशताओं, अशुद्धियों और व्याकरण के व्यतिक्रमों की कड़ी आलोचना करके उनको सतर्क बनाया। ये आदर्श सम्पादक थे। सम्पादन में बड़ा परिश्रम करते थे। भाषा की उच्छृङ्खलता दूर करके उसे व्याकरण-सम्मत और व्यवस्थित बनाने के लिए हिन्दी-साहित्य सदैव उनका ऋणी रहेगा।

इस काल में उच्च शिक्षा प्राप्त लोग भी हिन्दी की ओर झुके। पश्चिमी साहित्य का प्रभाव भी धीरे-धीरे पड़ने लगा। विषय विस्तार होने लगा। नये-नये विषयों पर लिखा जाने लगा, पर मौलिक साहित्य अधिक नहीं लिखा गया। अनुवादों का ढेर लग गया और इनमें भी अधिकता बँगला से अनुवादित उपन्यासों की रही। आरम्भ में काशी के देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों की धूम थी। उनका खूब प्रचार हुआ और बहुत से लोगों ने तो उन्हें पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। इससे हिन्दी-प्रचार में बहुत सहायता मिली। सम्वत् १९६७ में नागरी-प्रचारिणी सभा के उद्योग से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जन्म हुआ। सम्मेलन

की परीक्षाओं द्वारा भी हिन्दी का बहुत प्रचार हुआ। इस युग के लेखकों में निम्न-लिखित नाम उल्लेखनीय हैं :—

पत्रकार—महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, लज्जाराम शर्मा।

निबन्ध-लेखक—महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, राधाकृष्ण-दास, माधवप्रसाद मिश्र, सरदार पूर्णसिंह, श्यामसुन्दरदास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, गोपालराम गहमरी, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय।

समालोचक—महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन।

नाटककार—राधाकृष्णदास, देवीप्रसाद पूर्ण, माधव शुक्ल।

उपन्यास-लेखक—देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मेहता लज्जाराम शर्मा, व्रजनन्दन सहाय।

कहानी-लेखक—गिरिजाकुमार घोष, पार्वतीनन्दन, ज्वालादत्त शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, राधिकारमणसिंह।

इतिहासकार—गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा।

अनुवादक—महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, गोपालराम गहमरी, लाला सीताराम, सत्यनारायण कविरत्न, रूपनारायण पाण्डेय, रामचन्द्र वर्मा।

इनमें से अनेक लेखक द्विवेदी-युग के बाद आने वाले नवीन-युग में भी लिखते रहे और नवीन-युग की विशेषताओं से प्रभावित हुए। ऐसे लेखकों में श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, पद्मसिंह शर्मा, गौरीशङ्कर ओझा आदि गिनाये जा सकते हैं।

निबन्ध

महावीरप्रसाद द्विवेदी सफल पत्रकार के अतिरिक्त उच्चकोटि के गद्य-लेखक हैं। उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक होने के अतिरिक्त आप अच्छे समालोचक भी हैं। आपने कई अनुवाद भी किये और इस क्षेत्र में भी आप सबसे अधिक सफल हुए। आपके अनुवादों में मूल का आनन्द आता है। द्विवेदी जी का भावस्पष्टीकरण का ढङ्ग अत्यन्त सुबोध है। एक ही बात को कई तरह से कह कर उसे बिलकुल स्पष्ट कर देना यह आपकी शैली का एक विशेष गुण है। उनके लेखों में भाषणों की-सी धारावाहिकता पाई जाती है। आपकी भाषा में उर्दू, अँग्रेज़ी आदि भाषाओं के प्रचलित और सुबोध शब्दों का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। विषयानुसार आपकी शैली व्यंग्यात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक और गवेषणात्मक आदि रूपों को धारण करती है। व्यंग्यात्मक लेख लिखने में आप अनुपम हैं। बिलकुल बातचीत का-सा आनन्द आता है। गवेषणात्मक शैली में तत्सम शब्दों की अधिकता रहती है। विषय दुरूह होते हुए भी आपकी कुशल-लेखनी से भावों का स्पष्टीकरण इतना बोधगम्य हो जाता है कि सभी भाव सुलझी हुई लड़ियों की भाँति पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ते हैं।

सम्पादकीय कार्यव्यस्तता के कारण द्विवेदी जी को स्वतन्त्र रचनाएँ करने का अवसर बहुत थोड़ा मिला। उनकी अधिकांश रचनाएँ और अधिकांश निबन्ध अन्य भाषाओं के आधार पर लिखे हुए हैं। उनमें भी अधिकांश 'बातों के संग्रह' के रूप में हैं।

बालमुकुन्द गुप्त हरिश्चन्द्र-युग से ही लिखते चले आते हैं। पर उनकी विशेष प्रसिद्धि भारतमित्र में आने पर हुई। गुप्त जी भी द्विवेदी जी की भाँति व्याकरण के बड़े भारी विद्वान् थे। वे पहले उर्दू में लिखते

थे। उर्दू से हिन्दी में आये, अतः उनकी भाषा सुसङ्गठित, मुहावरेदार, चलती हुई और चटपटी है। बीच-बीच में व्यंग्य और विनोद की निराली छटा मिलती है। द्विवेदी जी की भाँति उन्होंने भी अरबी-फ़ारसी आदि के प्रचलित शब्दों और मुहावरों का प्रयोग खूब किया है। उनकी आलोचनाएँ बड़ी तीव्र और चुभती हुई होती थीं।

माधवप्रसाद मिश्र और सरदार पूर्णसिंह के नाम विशेष प्रसिद्ध नहीं हैं, परन्तु ये दोनों उच्चकोटि के निबन्ध-लेखक थे। मिश्र जी की अकाल-मृत्यु से हिन्दी का एक अच्छा निबन्ध-लेखक उठ गया। उनके थोड़े ही लेख देखने को मिले। इनकी भाषा-शैली में एक अपूर्व धाराप्रवाह पाया जाता है और भाषा सर्वत्र भावानुरूप तथा भावावेशमय है। पूर्णसिंह ने भी दो ही चार निबन्ध लिखे, परन्तु वे ही उन्हें अमर बनाने के लिए पर्याप्त हैं। वे बड़े भारी विद्वान् और अँग्रेज़ी आदि कई भाषाओं के मर्मज्ञ थे। उनके निबन्ध विशेषतः भावात्मक हैं। कहने का ढङ्ग बड़ा चमत्कारिक है। बीच-बीच में व्यंग्यात्मक दृष्टान्त आने से शैली बड़ी रोचक और आकर्षक हो गई है।

श्यामसुन्दरदास का हिन्दी-साहित्य में एक विशेष स्थान है। विद्यार्थी अवस्था में आपने अपने मित्रों के सहयोग से नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की और उसके द्वारा हिन्दी का जो उपकार हुआ है, उसका कुछ उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सभा की सफलता का अधिकांश श्रेय आपको ही है। आपकी अध्यक्षता में हिन्दी के सबसे बड़े कोष 'हिन्दी-शब्दसागर' का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त आपने अनेकों महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सम्पादन और निर्माण किया तथा कराया। द्विवेदी-युग में आपका कार्य विशेषतः सम्पादन का रहा, पर नवीन-युग में आपने कई

उच्चकोटि को मौलिक पुस्तकें लिखीं, जैसे—हिन्दी-भाषा और साहित्य, रूपक-रहस्य, साहित्यालोचन, भाषाविज्ञान, गोस्वामी तुलसीदास। आपने जिन विषयों पर लिखा वे सब हिन्दी के लिए नवीन थे। इन विषयों पर लिख कर उन्होंने भाषा को व्यापक बनाया और उसकी व्यञ्जनाशक्ति को बढ़ाया। आपकी शैली सरल और सुबोध होती है। उसमें उर्दू शब्द प्रायः नहीं मिलते, यद्यपि आप प्रचलित उर्दू शब्दों के प्रयोग के विरोधी नहीं।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी हास्यरसात्मक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं।

चन्द्रधर गुलेरी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके निबन्ध बड़े ही पाण्डित्य-पूर्ण होते थे। उनमें गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण निराला परिहास पाया जाता है। उनकी रचनाओं में एक विचित्र आकर्षण है। शैली बड़ी चलती हुई है। मुहावरों के समुचित प्रयोग से उसमें सजीवता भरी मिलती है। साथ ही साथ प्रसङ्गगर्भत्व का अनूठा आनन्द मिलता है।

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के अनूठे लेखक हैं। उनका सा गम्भीर विचारशील विद्वान् हिन्दी-संसार में शायद ही कोई हो। उनकी सभी रचनाएँ सिर से पैर तक मौलिक हैं। उनकी शैली में व्यक्तित्व की गहरी छाप पाई जाती है। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत और प्रौढ़ है। उनके लेखों ने भाषा की व्यञ्जनाशक्ति को बढ़ाने में बड़ी सहायता की है। उनके निबन्ध विशेषतया क्रोध, करुणा, उत्साह आदि मनोविकारों पर हैं या साहित्यिक विषयों पर। उनके लेखों में इन मनोविकारों का बहुत सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। साहित्यिक निबन्ध सारगर्भित और गवेषणा-परिपूर्ण हैं। भाषा में व्यर्थ शब्दाडम्बर कहीं नहीं पाया जाता। उर्दू शब्दों

का प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है, पर बड़ा ही जँचता हुआ। विनोद-पूर्ण व्यंग्य जहाँ आया है, वहाँ ऐसे शब्दों का प्राय: प्रयोग हुआ है। गम्भीर विवेचना के कारण भाषा कहीं-कहीं दुरूह अवश्य हो गई है, पर उनके बीच-बीच में व्यंग्य के छींटों की बहार पाठक को ऊबने नहीं देती।

शुक्लजी की महत्त्व की वास्तविक परिदर्शक उनकी समालोचनाएँ हैं, पर वे, प्राय: सभी, द्विवेदी-युग की नहीं, किन्तु नवीन-युग की रचनाएँ हैं। इन समालोचनाओं द्वारा शुक्लजी ने समालोचना-क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित कर दिया और समालोचकों के आगे एक नवीन आदर्श रक्खा।

लाला गुलाबराय के निबन्ध एक नवीन शैली के हैं। भावपूर्ण और बिचारपूर्ण दोनों प्रकार के निबन्ध उन्होंने लिखे हैं।

समालोचना

महावीरप्रसाद द्विवेदी का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनकी आलोचनाएँ उच्छृङ्खल लेखकों के लिए अच्छे नियन्त्रण का काम करती रहीं। हिन्दी-गद्य के व्याकरण विरोध आदि दोषों को दूर करने में उन्होंने बड़ा काम किया।

मिश्र-बन्धुओं ने सब से पहले प्राचीन कवियों और उनकी कविताओं पर बड़ी-बड़ी आलोचनाएँ लिखीं। वास्तविक आलोचना का आरम्भ यहीं से समझना चाहिए। पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक आलोचना का सूत्र-पात किया और बिहारी पर विस्तृत आलोचना लिखी। आगे चल कर अन्यान्य कवियों पर भी उन्होंने आलोचनात्मक लेख लिखे। श्यामसुन्दर-दास ने चन्द और तुलसी पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। इनके आलो-

चनात्मक ग्रन्थ आगे नवीन युग में निकले। लाला भगवानदीन कड़ी आलोचना के लिए प्रसिद्ध हैं।

नाटक

इस युग का नाटक-साहित्य विशेषत: अनुवाद-रूप में है। लाला सीताराम ने हरिश्चन्द्र-युग के अन्तिम और इस युग के प्रारम्भिक भाग में संस्कृत के अनेक नाटकों का अनुवाद किया। दूसरे प्रसिद्ध अनुवादक सत्यनारायण कविरत्न हैं, जिन्होंने भवभूति के उत्तर-रामचरित और मालती-माधव का अनुवाद किया। द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों में रूपनारायण पाण्डेय और रामचन्द्र वर्मा आदि ने बँगला के द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का अनुवाद किया, जिनकी बहुत धूम रही। बँगला के और नाटकों का भी अनुवाद हुआ।

मौलिक-लेखकों में राधाकृष्णदास, देवीप्रसाद 'पूर्ण' और माधव शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं। राधाकृष्णदास का राजस्थान-केशरी या महाराणा प्रताप बहुत प्रसिद्ध हुआ और वह कई बार अभिनीत भी हुआ। 'पूर्ण' ने साहित्य के विविध अङ्गों से परिपूर्ण और बहुत बड़ा चन्द्रकला-भानुकुमार नामक नाटक लिखा, पर अभिनयोपयोगी न होने से वह प्रसिद्ध प्राप्त न कर सका। माधव शुक्ल का महाभारत नाटक अभिनयोपयोगी होने से कई नाटक-कम्पनियों द्वारा खेला गया।

उपन्यास

इस युग के पूर्व ही बँगला के उपन्यासों का अनुवाद आरम्भ हो गया था। इस काल में वह और भी जोरों से होने लगा, पर उच्चकोटि के उपन्यासों के अनुवाद बहुत कम हुए। अन्तिम भाग में रवीन्द्र आदि

के कई उत्कृष्ट उपन्यास अनुवादित होकर हिन्दी में आये। अनुवादकों में रूपनारायण पाण्डेय और ईश्वरीप्रसाद शर्मा उल्लेखनीय हैं। रामचन्द्र वर्मा ने भी कई उपन्यासों का अनुवाद किया, जिनमें मराठी का छत्रसाल महत्त्वपूर्ण है।

मौलिक उपन्यास-लेखक बहुत कम हुए। देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी और तिलस्म के उपन्यासों ने निकल कर हिन्दी-संसार में धूम मचा दी। इनकी गिनती साहित्य में नहीं की जा सकती, पर इनकी भाषा-शैली बड़ी ही चलती हुई, व्यावहारिक और रोचक है। हिन्दी के जितने पाठक इन उपन्यासों ने उत्पन्न किये, उतने और किसी पुस्तक ने नहीं। इस प्रकार हिन्दी-प्रचार में इनसे बड़ी सहायता मिली।

हिन्दी के पहले वास्तविक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी कहे जा सकते हैं। इन्होंने ढेर के ढेर उपन्यास लिखे। पर उनमें भाषा-सम्बन्धी स्थिरता नहीं पाई जाती। किसी में अरबी-फ़ारसी से भरी हिन्दी है, तो किसी में बिलकुल संस्कृत-मयी। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने १८९६ में ठेठ हिन्दी का ठाठ और १९६४ में अधखिला फूल लिखा। इनका महत्त्व उपन्यास-सम्बन्धी नहीं, किन्तु ठेठ बोली की रचनाएँ होने के कारण है।

उपाध्याय जी अपनी इस विशेषता के लिए प्रसिद्ध हैं कि वे कठिन-से-कठिन और सरल-से-सरल शैली में गद्य एवं पद्य की रचनाएँ कर सकते हैं। इधर कुछ समय से वे मुहावरों को लेकर गद्य-पद्य रचनाएँ करने लगे हैं। ऐसी रचनाओं में कहीं-कहीं तो सारी भाव-व्यञ्जना ही मुहावरों में हुई, जिससे उनकी शैली बड़ी चटपटी और आकर्षक हो गई है। इस प्रकार उपाध्याय जी ने हिन्दी में नई-नई शैलियों में नये-

नये प्रयोग किये, पर उनकी रचनाएँ भावी-लेखकों के लिए आदर्श हो सकेंगी, इसमें सन्देह है।

मेहता लज्जाराम शर्मा ने सामाजिक और गार्हस्थ्य विषय लेकर कई उपन्यास लिखे। ब्रजनन्दनसहाय में नवीन ढङ्ग के उपन्यास-लेखक का आभास मिलता है। इनके उपन्यास भाव-प्रधान हैं, उनका लक्ष्य चरित्र-चित्रण या घटना वैचित्र्य नहीं, किन्तु मनोविकारों का वेगवान् व्यञ्जन है।

कहानी

आधुनिक ढङ्ग की कहानियाँ, जिन्हें Short story या गल्प कहते हैं, अँग्रेज़ी और बँगला की देखा-देखी हिन्दी में आई। हिन्दी में प्रथम कहानी-लेखक गिरिजाकुमार घोष माने जाते हैं, जिन्होंने पार्वती-नन्दन उपनाम से 'सरस्वती' में कई एक कहानियाँ लिखीं। धीरे-धीरे कहानी का प्रचार खूब बढ़ा। मासिक-पत्रिकाओं के प्रकाशन से इनके विकास में बड़ी सहायता पहुँची। इस युग के कहानी-लेखकों में ज्वाला-दत्त शर्मा बहुत प्रसिद्ध हैं। कौशिकजी की कहानियाँ भी खूब जनप्रिय हुई। साहित्यिक दृष्टि से चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' बहुत अच्छी हुई। अनेक विद्वानों ने उसे हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी माना है। राजा राधिकारमणसिंह ने यद्यपि दो ही चार कहानियाँ लिखीं, पर वे उत्कृष्ट कोटि की हैं। उनकी 'कानों में कँगना' नामक कहानी ने लोगों को आकर्षित किया। जयशङ्कर 'प्रसाद' ने भी इस युग में कहानी-लेखन आरम्भ कर दिया था, पर वे वास्तव में नवीन युग के लेखक हैं, अतः उनका वर्णन वहीं किया जायगा। उन्होंने कहानी-लेखन को नई दिशा की ओर प्रवर्त्तित किया।

नवीन युग

(१९७५ के पश्चात्)

नवीन युग साहित्य-निर्माण का युग है। हिन्दी में मौलिक साहित्य के निर्माण का सूत्रपात इसी युग में हुआ समझना चाहिए। द्विवेदी-युग में भाषा का रूप स्थिर, व्यवस्थित और परिष्कृत हो चुका था। अब नवीन शैलियों का विकास हुआ। अनेक लेखक बड़े उत्साह के साथ कार्यक्षेत्र में उतर आये और विभिन्न विषयों पर अच्छी-अच्छी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। भाषा की व्यञ्जना-शक्ति की वृद्धि होने लगी। द्विवेदी-युग के अनेक लेखक भी नये जोश के साथ नवीन साहित्य के निर्माण में प्रवृत्त हुए। श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, गौरीशङ्कर ओझा आदि की उत्कृष्ट रचनाएँ इसी युग में लिखी गईं। इस युग में हिन्दी का दूर-दूर तक प्रचार होने लगा। सुदूर मद्रास प्रान्त में हिन्दी बहुत लोकप्रिय हो पड़ी है। इसका श्रेय दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा को है। इस प्रकार हिन्दी धीरे-धीरे भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा बन रही है। राष्ट्र-भाषा की अधिकारिणी तो वह कभी की मानी जा चुकी है।

इस युग के कुछ प्रमुख लेखकों के नाम नीचे लिखे जाते हैं:—

१—नाटककार—जयशङ्कर 'प्रसाद', गोविन्दवल्लभ पन्त, बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन, माखनलाल चतुर्वेदी, बद्रीनाथ भट्ट।

२—उपन्यास-लेखक—प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ कौशिक, जयशङ्कर प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा।

३—कहानी-लेखक—जयशङ्कर प्रसाद, प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक, राय कृष्णदास, बेचन शर्मा उग्र, चण्डिकाप्रसाद हृदयेश, गोविन्दवल्लभ पन्त, जैनेन्द्रकुमार।

४—निबन्ध-लेखक—वियोगी हरि, पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, स्वामी सत्यदेव, राय कृष्णदास, हरिभाऊ उपाध्याय, देवशर्मा अभय, श्रीराम शर्मा, महाराजकुमार रघुवीरसिंह।

५—समालोचक—श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवान-दीन, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी।

६—इतिहासकार—गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, रामदेव, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, सत्यकेतु विद्यालङ्कार, जयचन्द्र विद्यालङ्कार, इन्द्र विद्यावाचस्पति।

७—जीवनी-लेखक—स्वामी श्रद्धानन्द, रामनाथलाल सुमन।

८—पत्रकार—गणेशशङ्कर विद्यार्थी, बनारसीदास चतुर्वेदी, बाबूराव पराड़कर, हरिभाऊ उपाध्याय, श्रीनाथसिंह।

९—वैज्ञानिक साहित्यकार—रामदास गौड़, सत्यप्रकाश, डॉक्टर गोरखप्रसाद, फूलदेवसहाय, त्रिलोकीनाथ वर्मा।

१०—भाषाविज्ञान—श्यामसुन्दरदास, नलिनीमोहन सान्याल, कामताप्रसाद गुरु, धीरेन्द्र वर्मा।

११—अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के लेखक—प्राणनाथ विद्याल-ङ्कार, दयाशङ्कर दुबे, भगवानदास केला, सम्पूर्णानन्द, चन्द्रराज भण्डारी।

१२—भूगोल और यात्रा के लेखक—शिवप्रसाद गुप्त, रामनारायण मिश्र, गौरीशङ्करप्रसाद, रामनारायण मिश्र सम्पादक 'भूगोल'।

१३—अनुवादक—धन्यकुमार जैन, हरिभाऊ उपाध्याय।

निबन्ध

इस युग में कई अच्छे निबन्ध-लेखक साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। भावात्मक निबन्धों की प्रधानता रही। वियोगी हरि और राय कृष्णदास ने रवीन्द्रनाथ की शैली पर कई अच्छे-अच्छे भावात्मक निबन्ध रहस्योन्मुख

आध्यात्मिकता का रङ्ग लिये हुए लिखे। दोनों लेखकों ने अन्य प्रकार के निबन्ध भी लिखे हैं। रायकृष्णदास की शैली में भाषा और भावों का मणि-काञ्चन-संयोग पाया जाता है। वाक्य छोटे-छोटे और प्रवाहपूर्ण होते हैं। शब्दों का चुनाव बड़ा ही मनोहर होता है। तद्भव शब्दों का सुन्दर प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। वियोगी हरि के गद्य-पद्य-मिश्रित निबन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं, जिनका संग्रह साहित्य-विहार में है।

हरिभाऊ उपाध्याय के अधिकांश निबन्ध राजनीतिक या सामाजिक हैं। उपाध्याय जी गहरे विचारशील व्यक्ति हैं और उनकी यह विचारशीलता उनके निबन्धों में झलकती है। स्वामी सत्यदेव पुराने लेखक हैं, पर आपके निबन्धों में नवीन जोश भरा रहता है। वे राष्ट्रीयता के भावों से सराबोर रहते हैं। देश की दुरवस्था के कारण आपके हृदय में जो विकल वेदना जागृत रहती है, वह उनके निबन्धों में भी ओतप्रोत रहती है। आपकी भाषा बड़ी ओजस्विनी होती है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी साहित्यिक-लेखक हैं। आपने पश्चिमी साहित्य का बड़ा अच्छा अध्ययन किया है और आपके निबन्ध बड़े विचारपूर्ण होते हैं। आप महावीरप्रसाद द्विवेदी के पीछे कई वर्षों तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे। देवशर्मा 'अभय' काँगड़ी के गुरुकुल के आचार्य हैं। आप अच्छे विचारशील और दार्शनिक विद्वान् हैं। आपके निबन्ध मोन्टेन, लैम्ब आदि की स्वच्छन्द प्रणाली पर लिखे हुए हैं। श्रीराम शर्मा 'हिन्दी-साहित्याकाश में उदीयमान एक नवीन नक्षत्र के रूप में चमके।' आपके पहले ही निबन्ध ने लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। आपके निबन्ध वर्णनात्मक हैं और शिकार-सम्बन्धी हैं। आपका वर्णन करने का ढङ्ग बड़ा ही सजीव और रोचक होता है। भाषा विषय

के अनुरूप सुघड़ होती है। चतुरसेन शास्त्री के निबन्ध भावावेशपूर्ण हैं। बेचन शर्मा उग्र के निबन्धों में भावावेश की उग्रता है। उनमें भाषा का धाराप्रवाह अपूर्व है। क्या भाषा, क्या भाव और क्या कल्पना, क्या आकर्षण, सभी दृष्टियों से उनकी रचनाएँ अनोखी हैं। महाराजकुमार रघुवीरसिंह सीतामऊ के युवराज और नवीन लेखक हैं। आपका ताज नामक निबन्ध उच्चकोटि का है। आपने कई गद्यकाव्यात्मक निबन्ध लिखे हैं।

समालोचना

इस युग में रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी, जायसी, सूर आदि पर समालोचनाएँ लिख कर समालोचना-क्षेत्र में नया युग उपस्थित कर दिया। कवि के हृदय को खोल कर दिखा देना यह आपकी समालोचनाओं में ही पाया जाता है। उनमें केवल गुण-दोष का कथन न करके अन्तःप्रकृति की छानबीन की गई है। उल्लिखित समालोचनाओं के अतिरिक्त आपने हिन्दी-साहित्य का विस्तृत इतिहास भी लिखा। श्यामसुन्दरदास की कबीर और तुलसी की आलोचनाएँ बड़ी सुन्दर हुई हैं। आपने भी 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' के नाम से हिन्दी-भाषा और साहित्य के विकास का आलोचनात्मक इतिहास लिखा है। लाला भगवानदीन की तुलसी, सूर, दीनदयालगिरि आदि पर लिखी हुई आलोचनाएँ उच्चकोटि की हैं। कृष्णबिहारी मिश्र ने मतिराम पर विस्तृत आलोचना लिखी, जिसमें तुलनात्मक आलोचना को अधिक स्थान दिया गया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी ने हिन्दी-साहित्य-विमर्श नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी और पश्चिमी समालोचना-शास्त्र के आधार पर इस विषय की कई रचनाएँ कीं। पद्मसिंह शर्मा के कई आलोचनात्मक निबन्ध समय-समय पर निकले। राजबहादुर लमगोड़ा ने तुलसीदास की सुकुमार

सूक्तियों का सरस विवेचन किया। नवीन रचनाओं में रामकृष्ण शुक्ल की 'प्रसाद की नाट्यकला', राजकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' तथा सूर्यकरण पारीक की 'ढोलामारू' की आलोचना उल्लेखनीय हैं।

नाटक

नाटक की उन्नति इस युग में विशेष नहीं हुई। इस क्षेत्र में एक ही लेखक हमारे सामने प्रधान रूप से आते हैं। ये हैं जयशङ्कर 'प्रसाद'। प्रसाद जी की प्रतिभा बहुमुखी है। नाटक के आप सर्वश्रेष्ठ लेखक तो हैं ही। इसके अतिरिक्त कहानी, उपन्यास, कविता और निबन्ध-लेखन में भी आपका पूर्ण अधिकार है। आपके अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं, जैसे अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री, विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, ध्रुवस्वामिनी आदि। इनमें प्राचीन भारतीय संस्कृति का अच्छा चित्र रहता है। चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है। भाषा परिष्कृत और प्रौढ़ है। तत्सम शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है और यह तत्समता उनकी रचनाओं में उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। अनेक आलोचकों की दृष्टि में ये नाटक अभिनय के अनुपयुक्त होने के कारण दृश्य-काव्य कहलाने के अधिकारी नहीं, पर यह कथन ठीक नहीं। सच्ची बात तो यह है कि हिन्दी में अभी अभिनय करनेवाली संस्थाओं का श्रीगणेश ही नहीं हुआ।

अन्य मौलिक नाटकों में गोविन्दवल्लभ पन्त की 'वरमाला', उग्र का 'महात्मा ईसा', और माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' विशेष उल्लेखनीय हैं। बदरीनाथ भट्ट ने भी कई नाटकों की रचना की है।

उपन्यास

इस युग में नवीन ढङ्ग के वास्तविक उपन्यासों का श्रीगणेश हुआ। प्रेमचन्द ने इस क्षेत्र में उतर कर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

इनके सेवासदन, प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि आदि उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हुए। प्रेमचन्दजी की भाषा-शैली निराली है। वह अत्यन्त सरल, चलती हुई, रोचक और सजीव है। ऐसी मुहावरेदार भाषा दूसरे लेखक की नहीं। इसी कारण इनकी रचनाओं का प्रचार बहुत हुआ। मैथिलीशरण गुप्त जैसे साधारण जनता के कवि हैं, उसी प्रकार प्रेमचन्द साधारण जनता के गद्य-लेखक हैं। कहीं-कहीं आदर्श स्थापना के फेर में पड़ जाने से आपका कलाकार-रूप प्रायः छिप जाता है और आप एक प्रचारक के रूप में दृष्टि आने लगते हैं।

जयशङ्कर 'प्रसाद' के कङ्काल और तितली नामक उपन्यास भी बड़े ही सुन्दर हुए हैं। प्रसाद और प्रेमचन्द की लेखन-शैली में बड़ी विभिन्नता है। बेचन शर्मा उग्र के उपन्यासों में शराबी, बुधुआ की बेटी आदि प्रसिद्ध हैं और उनमें उग्रजी की लेखन-शैली की सब विशेषताएँ पाई जाती हैं। वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़-कुण्डार' उच्चकोटि का ऐतिहासिक उपन्यास है। आपने और भी कई अच्छे-अच्छे उपन्यास लिखे हैं। बुन्देलखण्ड का local colour उनमें अच्छा पाया जाता है। अन्य रचनाओं में चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की परख' और 'हृदय की प्यास', विश्वम्भरनाथ कौशिक का 'माँ' और चण्डिकाप्रसाद हृदयेश का 'मङ्गल-प्रभात' उल्लेखनीय हैं।

अनुवादित उपन्यासों में रवीन्द्रनाथ के गोरा और कुमुदिनी, तथा वामन मल्हार जोशी का रागिणी, एवं सम्राट् अशोक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त टाल्सटाय, दास्तावेस्की, तुर्गनेव, विक्टर ह्यूगो और अनातोल फ्रान्स के कई सुप्रसिद्ध उपन्यासों का भी अनुवाद हो चुका है। संस्कृत की कादम्बरी का सुन्दर अनुवाद [illegible] भट्ट ने किया है।

कहानी

इस युगके सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक जयशङ्कर प्रसाद और प्रेमचन्द हैं। प्रसाद की कहानियों में वैचित्र्य और चमत्कार भरा रहता है। भाव-व्यञ्जना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता है। मानव-जीवन में सुख-दुःख, हास्य-शोक आदि कहाँ छिपे हैं यह वे जानते हैं। भाषा में उन्मुक्त उन्माद पाया जाता है। उनके पात्र और दृश्य स्वप्न-जगत की अपेक्षा आन्तरिक जगत् का दर्शन उनकी कहानियों में विशेषतया होता है। प्रेमचन्द जी की कहानियों में मर्त्यलोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र है। उनके पात्र रात-दिन हमारे साथ चलने-फिरने वाले हैं। ग्राम्य और गरीब समाज का जीवन उन्होंने अच्छा अङ्कित किया है। इसी के अनुरूप उनकी भाषा है।

कौशिक और सुदर्शन प्रेमचन्द की श्रेणी में ही आते हैं। कौशिक जी की कहानियाँ मुख्यतया गृहस्थ-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। सुदर्शन की कहानियाँ भी मुख्यतया सामाजिक हैं।

राय कृष्णदास, गोविन्दवल्लभ पन्त और विनोदशङ्कर व्यास को प्रसाद की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। राय कृष्णदास, भाव और भाषा के मनोरम समीकरण के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी कहानियों में कला और रोचकता दोनों पाई जाती हैं। 'अन्तःपुर का आरम्भ' नामक कहानी, जो इस संग्रह में ली गई है, पुरुषत्व और नारीत्व का मनोविज्ञान-जन्य अध्ययन है।

बेचन शर्मा उग्र की कहानियाँ राजनीतिक आन्दोलन के प्रभाव से प्रभावित हैं। उनकी निराली लेखन-शैली बड़ी मनोमोहक है। अन्य लेखकों में चण्डिकाप्रसाद हृदयेश, कृष्णानन्द गुप्त और जैनेन्द्रकुमार के नाम उल्लेखनीय हैं।

अन्यान्य भाषाओं की श्रेष्ठ कहानियों में भी अनुवाद निकल चुके हैं और निकल रहे हैं। अनुवादकों में धन्यकुमार जैन, श्रीगोपाल नेवटिया, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

हास्यरस की कहनियाँ आदि लिखने में अन्नपूर्णानन्द ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। आपका हास्य ऊँचे दरजे का होता है। हिन्दी में इस विषय में सर्वश्रेष्ठ लेखक आप ही हैं। अनुवादित हास्य-रचनाओं में परशुराम की कहानियाँ उल्लेखनीय हैं जिनका सुन्दर अनुवाद धन्य-कुमार जैन ने किया है। इनके दो संग्रह भेड़ियाधसान और लम्बकर्ण नाम से छपे हैं।

इतिहास और जीवनी

हिन्दी में इतिहास के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और लेखक गौरीशंकर हीरा-चन्द ओझा हैं। आप राजपूत-इतिहास के जगत्प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आपके वृहत् राजपूताने का इतिहास ग्रन्थ का प्रकाशन इसी युग में आरम्भ हुआ। इसके चार बड़े-बड़े खण्ड निकल चुके हैं। आपकी अन्य कृतियाँ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, उदयपुर का इतिहास आदि हैं। आपके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्राचीन लिपिमाला का द्वितीय संशोधित संस्करण भी इसी युग में निकला। आचार्य रामदेव ने तीन खण्डों में प्राचीन भारत का इतिहास लिखा है। मिश्रबन्धुओं ने बौद्धकाल-पूर्व के भारत का बड़ा ही खोजपूर्ण इतिहास इस युग में लिखा। विश्वेश्वरनाथ रेऊ राजपूत-इतिहास के लेखक हैं। भारत के प्राचीन राजवंश नामक उनका ग्रन्थ ३ भागों में प्रकाशित हुआ है। सत्यकेतु विद्यालंकार ने मौर्य-साम्राज्य का विस्तृत खोजपूर्ण इतिहास लिखा। जयचन्द्र विद्यालंकार का भारत-भूमि और उसके निवासी नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। राजकुमार रघुवीरसिंह ने

पठान-काल का आलोचनात्मक इतिहास लिखा और इन्द्र विद्यावाचस्पति ने मुगल-साम्राज्य का क्षय नाम के ग्रन्थ की रचना की। भाई परमानन्द का यूरोप का इतिहास भी अच्छा ग्रन्थ है।

जीवनी-साहित्य का उचित विकास इस काल में नहीं हुआ। छोटी-मोटी बहुत-सी जीवनियाँ लिखी गईं, पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एक ही आध निकले। स्वामी श्रद्धानन्द का 'कल्याण-मार्ग का पथिक' बहुत अच्छा आत्मचरित है। इधर गणेशशङ्कर विद्यार्थी और स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनियाँ निकली हैं। जीवनी-लेखन कला में रामनाथलाल सुमन ने नया आदर्श उपस्थित किया है। उनका 'हमारे राष्ट्रनिर्माता' जीवनी-विषयक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। साहित्यिक जीवनियों में रामचन्द्र शुक्ल का गोस्वामी तुलसीदास और श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का गोस्वामी तुलसीदास उल्लेखनीय हैं। अनुवादित ग्रन्थों में महात्मा गाँधी की आत्मकथा महत्त्वपूर्ण है।

इस युग में संस्मरण नामक नये साहित्य का सूत्रपात हुआ। बनारसीदास चतुर्वेदी, आचार्य रामदेव, श्रीराम शर्मा आदि लेखकों ने इस ओर अच्छी सफलता प्राप्त की है।

विज्ञान, भूगोल आदि

वैज्ञानिक साहित्य का हिन्दी में अभी आरम्भ ही समझना चाहिए। फिर भी पिछले दिनों में कई अच्छी-अच्छी रचनाएँ प्रकाशित हुईं। वैज्ञानिक साहित्य के सम्बन्ध में प्रयाग की विज्ञान-परिषद् ने बहुत कार्य किया। उसने विज्ञान नामक पत्र भी निकाला। रामदास गौड़ का इस कार्य में बहुत हाथ है। सत्यप्रकाश ने रसायन आदि पर हाल में ही कई अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। डॉक्टर गोरखप्रसाद के सौर-जगत् और फोटोग्राफ़ी नामक

ग्रन्थ उच्चकोटि के हैं। प्राणिशास्त्र पर व्रजेशबहादुर का जन्तु-जगत उल्लेखनीय है। स्वास्थ्य पर त्रिलोकीनाथ वर्मा का स्वास्थ्यविज्ञान और हमारे शरीर की रचना तथा चतुरसेन शास्त्री का आरोग्यशास्त्र महत्त्वपूर्ण हैं।

भौगोलिक साहित्य की सृष्टि करने में भूगोल-संपादक रामनारायण मिश्र बराबर प्रयत्नशील हैं। यात्रा सम्बन्धी ग्रन्थों में शिवप्रसाद गुप्त की पृथ्वी-प्रदक्षिणा सर्वश्रेष्ठ है। उसके अतिरिक्त रामनारायण मिश्र और गौरीशङ्कर प्रसाद का यूरोप में छः मास, श्रीगोपाल नेवटिया का काश्मीर, और स्वामी सत्यदेव के निबन्ध तथा मेरी जर्मन-यात्रा आदि रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

अर्थशास्त्र के लेखकों में प्राणनाथ विद्यालङ्कार, भगवानदास केला, दयाशङ्कर दुबे आदि के नाम उल्लेख के योग्य हैं।

भाषाविज्ञान का भी अभी आरम्भ ही समझिये। फिर भी दो-चार उल्लेखनीय कृतियाँ विद्यमान हैं, जिनमें श्यामसुन्दरदास, नलिनीमोहन सान्याल और मङ्गलदेव के भाषा-विज्ञान महत्त्वपूर्ण हैं। धीरेन्द्र वर्मा का हिन्दी भाषा का इतिहास अपने विषय का पहला और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी का विस्तृत व्याकरण लिखा है।

समालोचना-विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों में श्यामसुन्दरदास का साहित्यलोचन और रूपक-रहस्य, रामशङ्कर शुक्ल का अलङ्कार-पीयूष, अर्जुनदास केडिया का भारतीय भूषण, गुलाबराय का नवरस, रामकृष्ण शुक्ल की काव्य-जिज्ञासा, पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी का विश्व-साहित्य आदि रचनाओं के नाम लिये जा सकते हैं। अभी इस विषय का कोई उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ। ऊपर लिखी अधिकांश पुस्तकें एकाङ्गी हैं।

हिन्दी का साहित्य दिनोंदिन बड़े वेग के साथ प्रगति कर रहा है और

उसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल दिखाई पड़ता है। हमें आशा है कि हमारे नवयुवक लेखकों के उत्साहपूर्ण प्रयास से हिन्दी का साहित्य-भण्डार शीघ्र ही उच्चकोटि के ग्रन्थरत्नों से पूर्ण होगा और हिन्दी शीघ्र ही संसार की समुन्नत भाषाओं में स्थान प्राप्त करेगी।

यह प्रस्तावना लिखने में निम्न-लिखित ग्रन्थों आदि से सहायता ली गई है:—

(१) रामचन्द्रशुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास।
(२) श्यामसुन्दरदास—हिन्दी भाषा और साहित्य।
(३) जगन्नाथप्रसाद शर्मा—हिन्दी की गद्य-शैली का विकास।
(४) बदरीनाथ भट्ट—हिन्दी।
(५) मिश्रबन्धु—मिश्रबन्धु-विनोद।
(६) डॉक्टर एल्० पी० टैसिटरी—बार्डिक कटलग्स् एण्ड रिपोर्टस्।
(७) गणेशप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी-गद्य-साहित्य का सिंहावलोकन (सम्मेलन पत्रिका)।
(८) हजारीप्रसाद द्विवेदी—राममोहनराय की हिन्दी (विशाल-भारत)।
(९) नरोत्तमदास स्वामी—जठमल की गोरा-बादल की बात (ना० प्र० पत्रिका)।
(१०) पूरणचन्द नाहर—कुएँ भाँग (विशाल-भारत)।
(११) चि० डा० दलाल—प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह।
(१२) मुनि जिनविजय—प्राचीन गुर्जर गद्य-सन्दर्भ।
(१३) बहुत से हस्तलिखित राजस्थानी तथा ब्रजभाषा के ग्रन्थ।

प्राचीन हिन्दी-गद्य के उदाहरण

(क) राजस्थानी-गद्य

सम्बत् १३३०

······अढार पापस्थान त्रिविधिहि मनि-वचनि-काइ करणि-करावणि अनुमति परिहरहु। अतोतु निन्दउ, वर्तमानु संवरहु, अनागत पारख्खउ। पञ्चपरमेष्ठि नमस्कारु जिन शासनि सारु चतुर्दश पूर्व समुद्धारु सम्पादित—सकलकल्याणसम्भारु विहित-दुरितापहारु क्षुद्रोपद्रवपर्वतवज्र प्रहारु लीलादलितसंसारु सु तुम्हि अनुसरहु।

सम्बत् १३३६

स्वर केता १४। समान केता १०। सवर्ण १०। ह्रस्व ५। दीर्घ ५। लिङ्ग ३। पुल्लिङ्गु, स्त्रीलिङ्गु, नपुंसकलिङ्गु। भलु पुल्लिङ्गु, भली स्त्रीलिङ्गु, भलु नपुंसकलिङ्गु।

सम्बत् १३५८

पहिलउँ त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थङ्कर सर्वपापक्षयङ्कर हउँ नमस्कारउँ।······तउ पहिलई सौधर्मि देव लोकि बत्रीस लाख, बीजइ ईसामि देवलोकि अट्ठावीस लाख····सातमइ शुक्रदेवलोकि च्यालीस सहस, आठमइ सहस्रारि देवलोकि

छ सहस······इग्यारइ आरणि देवलोकि बारमइ अच्युत्देवलोकि विहू दउढु दउढु सउ, अनइ हेठिले त्रिहू ग्रैवेय के इग्योरोत्तर सउ माहिले सत्तोत्तर सउ, उपइले एकु सउ······एवंकारइ स्वर्गलोकि चउरासी लाख सत्ताणवइ सहस्र त्रेवीस आगला जिनभुवन वाँदउँ।

(२)

माहरउ नमस्कारु आचार्य हुउ। किसा जि आचार्य ? पञ्च-विधु आचारु जि परिपालइ ति आचार्य भणियइ। तीह आचार्य माहरउ नमस्कारु हुउ।

ईणि संसारि दधि चन्दन दूर्वादिक मङ्गलीक भणियइ। तीह मङ्गलीक सर्व ही माँहि प्रथमु मङ्गलु एहु। ईणि कारणि शुभकार्य-आदि पहिलउँ सुमरेवउँ जिव ति कार्य एह-तणइ प्रभावइ वृद्धि-मन्ता हुयइ।

सम्बत् १३६६

मृषावादि मृषोपदेश दीधउ, कूडउ लेख लिखिउ, कूडी साखि थापण मोसउ, कुण-हइ-सउँ राडि भेडि कलहु विढाविढि, जु कोइ अतिचार मृषावादि व्रति भव सगलाइ माहि हुउ त्रिविधि त्रिविधि मिच्छामि दुक्कड़े।[1]

तीर्थजात्रा रथजात्रा कीधी, पुस्तक लिखाव्याँ, तप नीयम देव बन्दन वाँदणाँइँ सज्याइ अनेराइ धर्मानुष्ठान-तणइ बिखइ जु ऊजमु कीधउ सु अम्हारउ सफलु हुओ।

---

[1] यह वाक्यांश प्राकृत भाषा का है।

सम्बत् १४११

१—ईहो जि जंबूद्वीप माहि भरतक्षेत्र माहि मगध नामि जनपदु छह। तिहाँ विजयवती नामि नगरी। तिहाँ नरवर्म नामि राजा, रतिसुन्दरी नामि पट्टमहादेवी हूँती। हरिदत्त नामि पुत्तु हूँतउ। मतिसागरादिक अनेकि महामात्य हूँता। अनेरइ दिवसि राजेन्द्र आगइ सभा माहि धर्मविचार विखइ आलापु नीपनउ।

२—एतकइ प्रस्तावि चोरु एकु चोरी करी तिहाँ आविउ। केडइ वाहर पुण आवी। चोरु स्मशान-वन गहन माहि पइठउ वाहर बाहिर बेढु करि रही। चोरि महेसरदत्तु चडतउ-ऊतरतउ देखी करी बोलाविउतउँ ज विद्या साधइ छइ स मूँहरइ आपि, एह माहरउ धनु तउँ लइ।

सम्बत् १४५०

जु करइ, सुइ, दिइ, पठइ, हुइ—इत्यादि बोलिवइ उक्ति माहि किया करिवइ जु मूलिगउ हुइ सु कर्त्ता। तिहाँ प्रथमा हुइ। चन्द्र ऊगइ—ऊगइ इसी क्रिया। कउण ऊगइ? चन्द्र। जु ऊगइ सु कर्त्ता, तिहाँ प्रथमा। जं दीजइ तं कर्म। तिहाँ द्वितीया।

सम्बत् १४५७ के लगभग

दृढ़ प्रहार पल्लीपति धाडि सहित एकिं गामिं पडिओ। एक ब्राह्मण-नइँ घरि क्षीरनुँ भोजन ब्राह्मणी अनइ बालक वाहावताँ हूताँ लीधउ। तेतकइँ ब्राह्मण स्नान करिवा गिओ हूँतओ, ते आविओ। तीणइँ रीस लगइँ भोगल लेई केतलाइ चोर विणासिया।

(२)

पछइ राजाइ कालसूरीउ खाटकी बोला विउ। तेह-हइँ कहिउँ-भावइ तेतलउ द्रव्य मागि पणि जीवहिंसा परही मूँकि। कालसूरिउ खाटकी कहइ-ए आपणी कुलक्रमागत हिंसा आवी ते मूकउँ नहीं। पछइ राजाइ ते अन्धकूप माहि घाती अहोरात्र राखिउ।

सम्बत् १४७८

तीह माहि वखाणीयइ मरहट्ठ देस। जीणइ देसि ग्राम, अत्यन्त अभिराम।[1] भला नगर, जिहाँ न मागीयइ कर। दुर्ग, जिस्याँ हुइ स्वर्ग। धान्य, न नीपजइ सामान्य। आगर सोना-रूपा-तणा सागर। जेह देस माहि नदी वहइ, लोक सुखइँ निर्वहइ। इसिव देश, पुण्य-तणउ निवेश, गरुअउ प्रदेश।

(२)

साँभलउ ए बात, ए आगलि दीसइ पद्मपुरनगर महा-विख्यात। तिहाँ छइ राजा समरकेतु, अति सचेतु, वयरी प्रति साक्षात् केतु। जेनलइ तेउ ए वात जाणिसिइ, तेतलइ ताहरा अहङ्कार-तणउ अन्त आणिसिइ। एह कारणि चोर आप निर्दोष थाउ पछे तुम्हइ भावइ तिहाँ जाउ।

---

[1] इस प्रकार के अन्त्यानुप्रासवाले गद्य को राजस्थानी में वचनिका कहते हैं। इन्शाअल्लाखाँ, लल्लूलाल आदि ने भी ऐसा गद्य लिखने का प्रयत्न किया है। यह प्रथा बहुत प्राचीन है (सं० १३३० का अवतरण देखो)।

(३)

रत्नमञ्जरी कुमारि प्रतिहारि-तणाँ इस्याँ वचन साँभली अङ्गि-ोमाञ्च धरती, नेउर-तणा झमझमकार करती, हर्षभर वहती, ाजा-ढूकड़ी पुहती। लाज ठेली, कण्ठकन्दलि वरमाल मेल्ही। ात्काल जयजयारव ऊछलिया, लोक कलकल्या। विद्याधर पुष्प-ृष्टि करइँ, भट्ट जय-जय शब्द उच्चरइँ।

सम्बत् १५००

राजसिंह कुमार रत्नवती सहित नाना प्रकार भोगसुख भोग-ाइ छइ। घणाउ काल हूओ। एक बार पिताइँ मृगाङ्कराजाइँ ातीहार हाथि लेख मोकलीनइ कहाविउँ-वच्छ, अम्हे वृद्ध ुआ। राज्य छांडी दीक्षा लेवानी[1] उत्कण्ठा करूँ छउँ। घणा ाल लगइ ताहरा दइनिनी उत्कण्ठा छइ। तु वहिलुं आँहाँ आविजे। पछइ राजसिंह कुमार चालिउ। अनुक्रमिं पुहुतं। पिता-इँ प्रणाम कीधउँ। सर्व कुटुम्ब परिवार हर्षिया।

सम्बत् १४७० के लगभग

१—महाराजाजी बिसक्रमाजी बोलाया। विसक्रमाजी आया। ुकम थारा। विसनपुरो रुद्रपुरी ब्रह्मपुरी बिचै अचलपुरी बसावौ।

२—विसनपुरी का विसनलोक आया। रुद्रपुरी का रुद्रलोक आया। ब्रहमपुरी का ब्रहमलोक आया। इन्द्रपुरी का इन्द्रलोक आया।

—अचलदास खीचीरी वचनिका

---

[1] नी = की। प्राचीन राजस्थानी का यह विभक्ति-चिह्न आधुनिक ुजराती में चला आया है।

सम्बत् १६०० के लगभग

१—राजि श्रीसीहौजी कनवज-हुँती आइ खेड रहीयौ। पछै श्रोद्वारका जीरी जातनु हालीयो सु विचालै पाटण मूलराज सोलङ्कीरी रजवार सु लाखौ फुलाणी उजाड़ धणाँ किया सु तेरै लियै सीहैजीनु राखै। पछै सीहैजी कहौ जु[1] जात करिनै घिरतौ आईस। पछै घिरता आया ताहरा लाखौ फुलाँणी मारीयौ पछै सीहैजीनु मूलराज परनाइनै खेड मेल्होया।

२—पछै जोधोजी राम कहो[2]। सु टीकाइत नीबो हुतो सु पेहली राँम कहो हुतो। पछै वीको कोडमदेसर हुँतौ सु रा वेरसल भीमोत वीकेजीनु कहाडीया जु राम जोधै राम कहो छै जे विगर गढमै चढीया तु आयो तो टीको तोनु हुसी। पछै राउ वीको कोडमदेसर हुती हालियो सु पेडै माहे आवन्त अँमल करनै सुतो। सु मौवडैरो आयो पछै सातलनुँ टीको दीन्हौ। तितरै राउ वीको ही आयो। पछै गढ़ घेरीयो।

सम्बत् १६२५ के लगभग

१—मोहिल अजीत नै राँणौ वछौ इयाँरौ राजथाँन लाडणुँ नै छापर हुतौ नै द्रुणपुर मोहिल कान्हौ वसतौ। पछै महाराई श्रीजोधैजी सगलाँनुँ मारिनै मोहिलेरेरी धरती लेनै राजि श्रीवीदे-जीनुँ राखीयौ।

---

[1] जु, जो = पुरानी हिन्दी में कि के स्थान पर प्रयुक्त होते थे।

[2] राम कहो = राम कह्यो = स्वर्ग सिधारे।

२—जोधपुर तुरकाणी छै। चन्दसेणजी राम कहो ताहरा टीको आसकरनु दीनो। पछै कितरे हेने दिहाड़ै उगरसेन कही जु मो कन्हाँ चाकरी कराड़ौ की नहीं।

सम्बत् १६५० के लगभग

राउ जोधौ गयाजी जात पधारिया। आगरारी पाखती नीसरिया। तराँ राजा करन कनवजरौ धणी राठौड़ तिणसूँ जोधौजी मिलिया। तरै राजा करन पातिसाही अएराव थौ। तिण पातिसाहिजीनूँ गुदरायौराउ जोधौ मारवाड़िरौ धणी छै, वड़ौ राजा छै, गुजरातिरै मुँहड़ै इणाँरौ मुलक छै।

सम्बत् १६६० के लगभग

तिणि वेला दातार भूझार राजा रतन मूँछाँ कर घाति बोलै। तरुआर तोलै। आगै लङ्का कुरखेत महाभारत हूआ। देव-दाणव लड़ि मूआ। च्यारि जुग कथा रही। वेदव्यास वालमीक कही। सु तीसरौ महाभारथ आगम कहता उजेणि खेत। अगनि सोर गाजसी। पवन वाजसी। गजबन्ध छत्रबन्थ गजराज गड़सी। हिन्दू असुराइण लड़सी।

—राव रतन महेसदासमोतरी वचनिका

सम्बत् १६८० के लगभग

जहाँगीर पातिसा, नूरमहल इतमाददोलारी बेटी असपखाँरी बहन, तिणसूँ साहजादै थकाँ यारी हुती नै पछै पातसा हुवौ तरै उणरौ माँटी मारिनै उणनूँ लै मोहलमाँ घाली। पातसाही उणनूँ सूँपी।

सम्बत् १७०० के लगभग

पछै वेढ हुई। उमराव जैसीजीरा भागा। आप काम आया। साथ माहै दूजौ ही लोक काम आयौ सु रिणमाँ जैतौ-कूँपौ आया जद कह्यौ—साँखलौ नाठौ दीसै छै, देखाँ करण जाव कहै थौ। कही कह्यो—साँखलौ तौ मौहलाँमें खेत पड़ौ छै। अे ऊपर आया। देखै तौ साँखलो गिरणौ छै। तद पूछौ—साँखला, गिरणौ सु घाव दोहरा लगा। तद इयै कह्यौ—जी घाव न दुखै छै पण छोटे माण से मोटो रात्र मारियो तै गिरणूँ छूँ। तद कह्यौ—म्हाँरौ बेटौ साँखलो उणतरै ही ज बोलै, इणरै मुहमै धूड़ घातौ। सु धूड़ घाती। सा वणी कह्यौ—धरती तो साँखलो दाड़ाँ मै लै रह्यौ।

सम्बत् १७२० के लगभग

तठै पाबूजी गायाँ पायनै छोड़ी छै। इतरै सेह दीठी। कहीरै चाँदी, आ स्वेह केरी ? तद चाँ दै कही—राज खीची आयौ। अर पहलड़ी लड़ाईमाँहे चाँ दै खीचीनुँ तरवार वाही हन्तो तद पाबूजी तरवार आपड़ लीवी, कह्यी—मारो मताँ बाँई राँड हुसी। तद चाँदै कही—राज, आप तरवार अपड़ी बुरी कीवी। पण पाबूजी मारण दीया नही। तठै फौज आई। तद चाँदै कहा—राज, जो मारीयौ हुवै हात तौ पाप कटियौ हुत, हराँमखोर आयो। तठै पाबूजी तौ वुहा नै लड़ाई कीवी। वडो रीठ वाजियौ। तैसँ पाबूजी तौ काँम आया।

(२)

राजा राइस्यङ्घ कल्यांणमलौत वड़ौ महाराजा हुवौ बीकानेर जूनौगढ़, पञ्जाब सुधी धरती हुती। नागौर हुतौ, पहल तुरकाणै जोधपुरि पातिसाह अकबर दियौ थौ। वड़ौ दातार राजा हुऔ। चारणाँरै मासाणौ हाथी बाधा।

सम्बत् १८०० और १८४५ के बीच में

चातक, दादर, मोर तीनूँ ही मेघरा मित्र है जिणाँमै मयर अत उत्तम है। मेघ चातकरै फायदो करै, दादुररै अत फायदो करै, मोररै क्यूँही फायदो करै नहीं।

सम्बत् १८६० के लगभग

जिण खिसामै दराजी रहै सो खिसौ इतिहास कहावै। जिण खिसामै कम दराजी सो वात कहावै। इतिहासरो अवयव प्रसङ्ग कहावै। जिण वातमै अेक प्रसङ्ग हीज चमत्कारीक होय तिका वात दासतान कहावे।

सम्बत् १६२० के लगभग

सम्बत् १८८५ बैसाख वदी ५ श्री म्हाराज रतनसिंहजी तखत विराजिया करणम्होलमै। सु पहलाँ तो गाँव सेखसररै गोदारै तिलक कियो श्रीहजूररै। वा पीछै म्हाजनरा ठाकराँ वैरीसालजी सेरसिंघोत हजूररै तिलक कियो। पीछै रावतसररा ठाकराँ न्हारसिंहजी तिलक कियो।

खरीतौ १ दिलीरै रजीडण्ट कवलबूरक साहब बहादररौ

आयौ। श्रीदरबार साम्हाँ जैमै इस्यौ लिख्यौ के धोकलसिंहजी जोधपुररै इलाकेमै फिसाद करै है।

(ख) ब्रजभाषा-गद्य

सम्बत् १४०७

१—श्रीगुरु परमानन्द तिनको दण्डवत् है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप है सरीर जिन्हिकौ, जिन्हिकै नित्य गायेतें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है।·····स्वामी तुम्ह तौ सतगुर अम्ह तो सिष, सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस[1]।

२—सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननिकौ दै चुकौ, अरु सहस्र जग्य करि चुकौ, अरु देवता सर्व पूजि चुकौ, अरु पितरनिकौ सन्तुष्ट करि चुकौ, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुकौ जा मनुष्य कौ मन छनमात्र ब्रह्मकै विचार बैठो।❀

विट्ठलनाथ (१५७२—१६४२)

प्रथम की सखी कहतु है जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्दहास्य ने जीते हैं। अमृत-समूह ताकरि निकुञ्ज विषै शृङ्गार-रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।

---

[1] ये रचनाएँ गोरखनाथ की कही गई हैं, पर उनकी नहीं हैं। इनका समय भी सम्बत १४०७ ठीक नहीं जान पड़ता।

गोस्वामी गोकुलनाथ

ता पाछें कृष्णदास राजा टोडरमलसों बिदा होयकें श्रीनाथजी द्वारकों चले। सो मथुरा आयै। तब मार्ग में अवधूतदास मिले। तब कृष्णदाससों अवधूतदासने कही जो [1]कृष्णदासजी, ढील कहा करि राखी है, बङ्गालीनकों काढौ, श्रीनाथजो की ऐसी इच्छा है, श्रीनाथजोकों अपनो वैभव फैलावनों है। तब कृष्णदासने कह्यौ जो श्रीगुसाईंजी की आग्या लेकें आयौ हौं, अब जायकें बङ्गालीनकों काढ़तहौं। सो वे बङ्गाली सब रुद्रकुण्ड ऊपर रहते। सो वहाँ उनकी झोंपरी हुती। सो कृष्णदासने जराय दीनी। तब सोर भयौ।

—चौरासी वैष्णवन की वारता।

नाभादास (सम्बत् १६६० के लगभग)

तब श्रीमहाराजकुमार प्रथम वशिष्ट महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भये। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनकों प्रनाम करत भये। फिर श्रीराजाधिराजजूकों जोहार करिकैं श्रीमहेन्द्रनाथ दसरथजूके निकट बैठते भये।

—अष्टयाम

गोस्वामी तुलसीदास (सम्बत् १६६६)

[2]सम्बत् १६६६ समये कुआर सुदि तेरसी बार·····शुभ

---

[1] जो = कि। कि का प्रयोग बहुत समय बाद होने लगा था। सम्भव है, वह फ़ारसी से लिया गया हो। यद्यपि कई विद्वानों की राय इसके प्रतिकूल है। वे इसकी उत्पत्ति किम् से मानते हैं।

[2] इसकी भाषा ब्रज नहीं, पर बोलचाल की अवधी है।

दीने लिखीतां पत्र अनन्दराम तथा कन्हईके अंसवीभाग पुर्वक आग कै आग्य दुनहु जने माँगा जे आग्य मै शे प्रमान माना दुनहु जने विदीत तफसीलु अंशु टोडरमलु के माह जे विभाग पट्ट होत रा—

—पञ्चनामा

बनारसीदास (सम्बत् १६७०)

सम्यग् दृष्टि कहा ? सो सुनो। संसय, बिमोह, बिभ्रम—ए तीन भाव जामैं नाही सो सम्यग्-दृष्टी। संसय, बिमोह, बिभ्रम कहा ? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है। सो सुनो।

भुवनदीपिका (सम्बत् १६७१)

जउ अस्त्री-पुत्र-तणी[1] पृछा करइ। आठमइ-नवमइ स्थानि एकलो सुक्र होइ तउ प्रताप स्वभाव रमतउ कहिवउ।[2]

वैकुण्ठमणि शुक्ल (१६७५—१६८४)

सब देवतनकी क्रयातै वैकुण्ठमनि सुकुल श्रीमहारानी श्रीरानी चन्द्रावतीके धरम पढ़िबेके अरथ यह जयरूप ग्रन्थ बैसाख-महातम भाखा करत भये। एक समय नारदजू ब्रह्माकी सभासे उठिके सुमेर पर्वतको गये।

दामोदरदास (सम्बत् १७१५)

अथ बन्दन। गुरदेवकूँ नमसकार। गोबिन्दजीकूँ नमसकार। सरब परकारकै सिध, साध, रिषमुनिजन, सरबहीकूँ नमस्कार।

---

[1] तणी = की (राजस्थानी प्रत्यय)

[2] इस उदाहरण की भाषा राजस्थानी भी कही जा सकती है।

अहो तुम सब साध ऐसी बुधि देहु जा बुधि करि या ग्रन्थ को बारतिक भाखा अरथ रचना करियै।

—मार्कण्डेयपुराण भाषा

सूरति मिश्र (सम्बत् १७६७)

सीसफूल सुहाग अरु बेंदा भाग—ए दोउ आये। पाँवड़े सो हे सोने के कुसुम-तिनपर पैर धरि आये हैं।

भोगलपुराण (सम्बत् १७७४ से पूर्व)

आकासते बायु (उ) त्पन्ना। बायुते तेज उत्पन्ना। तेजतैं ब्रह्माण्ड उत्पन्ना। ब्रह्माण्डतैं पाणी उत्पन्ना। पाणीतैं अण्ड उत्पन्ना। अण्ड फूट कुटका भयै। ते जल मध्ये विष्णु रहै है।

अग्रनारायण दास (सम्बत् १८२६)

तब श्रीकृष्ण अघोरबंसी बजाई। ब्रज-गोपिकानि सुनी। राधिका ललिता विशाखादि गोपी आई। रासमण्डल रच्यो। रागरङ्ग नृत्यगान आलाप आलिङ्गन सम्भासन भयो।

रामचरणदास (सम्बत् १८४४)

पुनि राम-नाम कैसो है ? हेतु कृसानु भानु हिमकरको। जहाँ एक शब्द में दुई अर्थ होंइ, तीन चार पाँच छै सात इत्यादिक अर्थ होंइ आसय लिहे एक शब्द में, ताको श्लेयाङ्कार कही, पुनि ध्वन्यात्मक काव्य कही। यह चौपाई में अनेक हेतु अनेक ध्वनि अनेक आसय हैं। निज मति-अनुसार एक-दुइ मैं भी कहता हौं।[1]

[1] 'कहता हौं' होना चाहिए।

लाला हीरालाल (१८५२)

अब शेख अबलफजल ग्रन्थ को करता प्रभुकों निमसकार करिकैं अकबर बादस्याह की तारीफ लिखनेकों कसरत करै है, अरु कहै है—याकी बडाई अरु चेष्टा अर चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाँही। तातै याके पराकरम अर भाँति-भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनियामै प्रगट भये ताकों संक्षेप लिखत हौं। प्रथम तो बादस्याह के नाँम-संग्याकों अरथ लिखियत है। बाद फारसी भाषा में नित रहै ताको कहते है।[1]

—आईन-अकबरी भाषानुवाद

हितोपदेश ग्रन्थ (सम्बत् १८६० के पूर्व)

प्रथम ही श्री महादेवजू के प्रशादतैं सकल काँमकी सिध होय। कैसे है श्रीमहादेवजू। जिनके सीस चन्द्रमा······

सरदार कवि (सम्बत् १६०२)

बन्शीबट के निकट आज मैंने नेक स्यामको मुख हेरो। नटनागर के पटपै तबते मेरो मन लटको है।

(ग) खड़ीबोली-गद्य

गङ्गाभाट (सम्बत् १६२७)

१—सिद्धिश्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्रीदलपतिजी अकबरसाहजी आम-खासमें तखत ऊपर बिराजमान हो रहे और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुर-

[1] इस अंश की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट जान पड़ता है।

निश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करे अपनी-अपनी मिसलसे, जिनकी बैठक नहीं रेसमके रस्सेमें रेसम की लूमें पकड़-पकड़के खड़े ताजीममें रहे।

२—इतना सुनके पातसाहिजी श्री अकबरसाहजी आद-सेर सोना नरहरदास चारनको दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बखना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।

—चन्द छन्द बरनन की महिमा

मण्डोवर का वर्णन (१८४० के पूर्व)

अवलमें[1] यहाँ माण्डव्य रिसीका आश्रम था। इस सबबसे इस जगेका नाम माण्डव्यास्त्रम हुवा। इस लफज बिगड़कर मण्डोवर हुवा है।

लुकमान हकीमकी अपणै बेटैकूँ नसीहत (सम्बत् १८४५ के पूर्व)

पुछया—वस्त किस पास माँगियै। कह्या—दैणै खुस्याल रहै……

कुतबदी साहिजादेरी बात (सम्बत् १८४७ के पूर्व)

पीरोजसाह पातस्याह दिली पातस्याही करै। तिसके उमराव-तिखरसिंघ, गलतसभा, सुलतान। तिसके दरीयासाह बेटा। दुसरा महंमदसाह बेटा।

मुन्शी सदासुखलाल (१८५० से १८६० के बीच में)

१—यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस

---

[1] अवलमें = अव्वलमें, पहले।

बातका डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य उसका सतवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये।

२—धन्य कहिये राजा दधीचको कि नारायण की आग्या अपने सीसपर चढ़ाई। जो महाराज की आग्या और दधीचके हाड़का बज्र न होता तो ग्यारह जनम ताईं वृत्रासुरसे युद्धमें सरबर और प्रबल न होता और न जय पावता।

इन्शाअल्लाख़ाँ (१८५२-५५)

१—एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोलीकी पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूलकी कलीके रूप खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक भों चढ़ाकर, आँखें फिराकर कहने लगे—यह बात होते नहीं दिखाई देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो, बस जैसे भले लोग अच्छे-से-अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं ज्यों-का-त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसीकी न हो, यह होनेका नहीं।

२—एक डबरे पर बैठ के दोनों की मुठभेड़ हुई। गले लगके ऐसी रोइयाँ[1] जो पहाड़ों में कूक-सी पड़ गई। दोनों जनियाँ

---

[1] रोइयाँ = रोई।

एक अच्छी-सी छाँव को ताड़ कर आ बैठियाँ[1] और अपनी-अपनी दोहराने लगीं[2]।

३—अच्छापना घाटों का—कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राजकी नदियों में थे पक्के चाँदी के थक्के-से होकर लोगों को हक्का बक्का कर रहे थे। जितनी ढवकी नावें थीं सोनहरी रूपहरी, सजी-सजाई, कसी-कसाई, सौ-सौ लचके खातियाँ, आतियाँ,[3] जातियाँ, ठहरातियाँ, फिरतियाँ थीं।

४—ना जी, यह तो हमसे न हो सकेगा जो[4] महाराज जगतपरकास और महारानी कामलताका हम जानबूझकर घर उजाड़ें और उनकी जो इकलौती लाड़ली बेटी है उसको भगा ले जावें और जहाँ-तहाँ उसे भटकावें और बनासपत्ती खिलावें और अपने चोंड़े को हिलावें। जब तुम्हारे और उसके माँ-बाप में लड़ाई हो रही थी और उन्ने उस मालिन के हाथ तुम्हें लिख भेजा था जो मुझे अपने पास बुलालो, महाराजों को आपस में लड़ने दो, जो होनी हो सो हो, हम तुम मिलके किसी देस को निकल चलें—उस दिन न समझीं। तब तो वह तावभाव दिखाया।

---

[1] बैठियाँ = बैठीं।

[2] लगियाँ रूप भी प्रयुक्त हुआ।

[3] खातियाँ = खाती या खाती हुई।

[4] जो = कि। इन्शाअल्लाखाँ ने दोनों का प्रयोग किया है।

लल्लूलाल (१८६०)

१—इतनी कथा कह सुकदेवजी राजा परीक्षित से कहने लगे कि राजा, जद पृथ्वी पर अति अधर्म होने लगा तद दुख पाय घबराय गाय का रूप बन राँभती देवलोक में गई और इन्द्र की सभा में जा सिर झुकाय उसने अपनी सब पीर कही कि महाराज, संसार में असुर अति पाप करने लगे, तिनके डरसे धर्म तो उठ गया औ मुझे आज्ञा हो तो नरपुर छोड़ रसातल को जाऊँ।

२—मणिका प्रकाश दूर से देख यदुवंशी खड़े हो श्रीकृष्णचन्द्रजी से कहने लगे कि महाराज, तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा किये सूर्य चला आता है। तुमको ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि सब देवता ध्यावते हैं और आठ पहर ध्यान धर तुम्हारा यश गावते हैं। तुम ही आदिपुरुष अविनासी, तुम्हें नित सेवती है कमला भई दासी।

सदल मिश्र (१८६०)

१—इतनी कथा सुनाय फिर नासिकेत मुनि कहने लगे कि यमकी आज्ञा से सब दूत एक-किसी को इहाँ से ले गये वो[1] उनके आगे खड़ा कर दिया। उसका जो पुण्य-पाप का विचार होते मैंने देखा सो अब कहता हूँ। तुम सावधान हो सुनो।

२—जो नर चोरी आदि नाना भाँति के कुकर्म में आप तो दिन-रात लगे रहते हैं, तिसपर भी औरों को दूखते हैं, वो एक

---

[1] वो = और, व।

अक्षर भी जिससे पढ़ते हैं विसे गुरु के बराबर नहीं मानते हैं, सो तब तक महानरक को देखते हैं कि जब तक यह संसार बना रहता है।

बाइबिल का अनुवाद (सम्बत् १८६६ के लगभग)

तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से मर्दन के तीर पर आया। परन्तु योहन यह कहके उसे बर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं। यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे, क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा लेके तुरन्त जलके ऊपर आया और देखो उसके लिए स्वर्ग खुल गया और अपने ईश्वर के आत्माको कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ।

इश्तहार (सम्बत् १८६७)

सब कोईको खबर दिया जाता है कि शहर कलकत्ता का उत्तर डिवीजन का शामिल मोकाम अमड़ातल्ला गोबिनचाँद-धर-लेन में इगारह नम्बर का जमीन—उओ जमीन का नाप पाँच काठा, उसका कुच कमी होय और बेसी होय—उओ जमीन और सुरती बागान के रहने वाला उसका मलिक बाबू हरिनारायन चक्रवर्त्ती उसको बेचने माँगता है।[1]

—बँगला के किसी समाचार पत्र में

---

[1] इस अवतरण पर बँगला का प्रभाव स्पष्ट है।

राजा राममोहन राय (१८७३)

जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं अर्थात् अब्राह्मण हैं, यह प्रमाण करणे की इच्छा करके ब्राह्मण-धर्मपरायण श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्रीजी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो[1] उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।

गोरा-बादल की बात का गद्यानुवाद (१८८० के लगभग)

गोरे की आवरत[2] आयेसा वचन सुनकर आपने खावन्द की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुइ सो सीवपुर में जाके वाहा दोनों भेले हुवे। गोरा-वादल की कथा गुरू के व सरस्वती के मेहरवानगी से पुरन हुइ, तीस वास्ते गुरुकु व सरस्वती कु नमस्कार करता हु। ये कथा सोल से आसी के सालमे फागुन सुदी पुनम के रोज वनाइ। ये कथामे दो रस हे, वीरारस व सीनगार रस, सो कया।

धरमसी नाव कायेत[3] तीनका वेटा जटमल नाव कवेसरने ये कथा सवल गावमे पुरण करी।

---

[1] जो = कि

[2] आवरत = औरत, पत्नी। आयेसा = ऐसा।

[3] कायेत = कायस्थ। नाहर ओसवाल वैश्य होते हैं अनुवादक ने भ्रमवश कायस्थ लिख दिया है।

जुगलकिसोर सुकुल (१८८३)

१—एक यशी वकील वकालत का काम करते-करते बुड्ढा होकर अपने दामादको वह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम करके एक दिन आया ओ प्रसन्न होकर बोला, हे महाराज, आपने जो फलानेका पुराना ओ सङ्गीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ। यह सुनकर वकील पछताकरके बोला कि तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे में से हमारे बाप बढ़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठाके दे गये ओ हमने भी उसको बना रखा ओ अबतक भली भाँत अपना दिन काटा ओ वही मोकद्दमा तुमको सौंप कर समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलोगे पर तुम थोड़े-से दिनों में उसे खो बैठे।

२—१६ नवम्बर को अवधबिहारी बादशाहके आवनेकी तोपें छूटीं उस दिन तीसरे पहरको ष्टर्लिङ्ग साहिब ओ हेल साहिब ओ मेजर फिंडल ओ रेविनशा साहिब लार्ड साहिब की ओरसे अवधबिहारी की छावनीमें जा करके बड़े साहिबका सलाम कहा और मोर होके लार्ड साहिबके साथ हाजिरी करनेका नेवता किया। फिर अवधबिहारी बादशाहके जानेके लिए कानपुरके तले गङ्गामें नावोंकी पुलबन्दी हुई और बादशाह बड़े ठाटसे गंगापार हो गवरनर जेनरेल बहादुरके सन्निध गये।

बुद्धिप्रकाश (सम्बत् १६०६)

इस पश्चिमीय देश में बहुतों को प्रकट है कि बङ्गाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गङ्गा-तटपर ले जाते हैं और यह नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तटपर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और 'हरी बोल—हरी बोल' कहकर उसका जीव लेते हैं।

राजा शिवप्रसाद

१—देखकर लोग उस पाठशाला के किते के मकानों की खूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उसके बनने के खर्च को तजवीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है, सो सब दानाई साहब-ममदूह की है, खर्च से दूना लगावट में वह मालूम होता है। (१६०२ के लगभग)

२—वह कौनसा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँवपर अपना सिर नवाते।······उसके दानने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्यायने विक्रम को भी लजाया।

१—वेद में लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिए ओषधि समझना; और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्म-शास्त्रा

चार्चों में मनुजी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं, क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है।

४—हम लोगों को, जहाँ तक बन पड़े, चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिये कि जो आमफ़हम व खासपसन्द हों, अर्थात् जिनको जियादह आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े-लिखे आलिम-फ़ाजिल, पण्डित-विद्वान् , की बोलचाल में छोड़े नहीं गये हैं, और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैर-मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए।

५—इसमें अरबी, फारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिए अँग्रेजी के भी शब्द कन्धे से कन्धा भिड़ाकर यानी दोश-ब-दोश चमक-दमक और रौनक पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिन्द कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इन्तिजाम मुन्तजिम की अक्लमन्दी की गवाही देता है।[1]

राजा लक्ष्मणसिंह

१—हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोली हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है।

२—उसी दिन एक मृगछौना, जिसको मैंने पुत्रकी भाँति पाला था, आ गया। आपने बड़े प्यार से कहा कि—आ बच्चे,

---

[1] हिन्दी भाषा में बिदेशी शब्दों को नीचे बिन्दी देकर शुद्ध विदेशी रूप में लिखने का प्रारम्भ राजा साहब ने ही किया।

पहले तू ही पानी पी ले। उसने तुम्हें बिदेसी जान तुम्हारे हाथसे जल न पिया, मेरे हाथ से पी लिया। तब तुमने हँसकर कहा कि सबकोई अपने ही सङ्गाती को पत्याता है, तुम दोनों एक ही बनके बासी हो और एक-से मनोहर हो। (१६१६)

स्वामी दयानन्द

१—इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितों की श्रद्धासे सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादिका परम धर्म है और जो जो मर गये हों उनका नहीं करना क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थको पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादिसे दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। (१६३५)

२—मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकलके स्वमतकी स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मतकी निन्दा, हानि, और बन्द करने में तत्पर होते वैसे मैं भी होता परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं क्योंकि जैसे पशुबलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं। जब मनुष्य-शरीर पाके वैसाही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य-स्वभाव-युक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और स्वार्थ-वश होकर परहानिमात्र करता है वह जानों पशुओं का भी बड़ा भाई है। (१६३६)

———

गद्य-माधुरी

प्रतिष्ठा

ए उच्च मार्ग के पथिको, सावधान ! इस प्रतिष्ठा-पिशाची से सावधान ! यह पाशिनी अपना पाश फैला कर जगह-जगह पर हमारी राह में आकर बैठती है, उससे बच-बच कर आगे पग धरना। यह अपने फन्दे में हाथ-पैर बाँध कर सहज में निचली भूमि पर पटक देगी।

जब फूलों का बरसना, अखबारों में मोटे अक्षरों में नाम लिखा जाना, बड़े जन-सङ्घ से घिरे हुए उच्चासन पर बैठाया जाना, आदि दृश्य उपस्थित हों तो जान लेना कि प्रतिष्ठा की रपटन आ गई है। इस चिकने चमकते से स्थल पर सँभल कर पैर रखना कि कहीं फिसल कर औंधे मुँह गिरना न हो।

एक सन्त को जब, सत्कार-पूर्वक भोजन खिलाने ले जाने लगे तो उन्होंने अस्वीकार किया कि मुझे तो तिरस्कार से मिला भोजन चाहिए। यह क्यों ? मनु महाराज ने ब्राह्मण के लिए अपमानामृत के पिपासु रहने का क्यों आदेश किया है ? 'प्रतिष्ठा

सूकरी-विष्ठा' इत्यादि वचन किसलिए हैं ? सच बात यह है कि इस प्रतिष्ठा-सर्पिणी से काटा मनुष्य बचता नहीं है। बहुत से लोग, जिनके नाश करने के सब उपाय विफल हुए—कारावास और मौत का भय उन्हें न रोक सका, परन्तु जब उन्हें सम्मान का हलाहल-रस थपक-थपक कर प्रेम से पिला दिया गया तो वे ऐसे सोये कि फिर कभी न उठ सके।

मेरे बल के करतबों को देख कर जो मेरी प्रशंसा करता है, क्या वह मेरी प्रशंसा करता है ? हाँ ! उस शक्ति-रूप प्रभु के सेवाय और किसकी स्तुति हो सकती है कि जिसके प्रदान किये सामर्थ्य के बिना संसार में एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

जो मेरे सौन्दर्य पर मुग्ध हो, ललित शब्दों में मेरी प्रशंसा के गीत गाता है, वह मूर्ख नहीं जानता कि यह तो मेरे और उसके उस दिव्य कारीगर का स्तोत्र पाठ हो रहा है, जिसने अपने सौन्दर्य से इस ब्रह्माण्डोद्यान में सुन्दरतम फूलों को रँगा है।

और मेरी बुद्धि के चमत्कारों की जब कोई स्तुति करता है, हे स्वयं भास्वन् भगवन् ! उसे मैं अपनी स्तुति कैसे समझूँ ? मेरे तो सूर्य तो आप हैं, जिससे फैलती हुई असंख्यातों किरणों में से कुछ हमारे इन क्षुद्र मानवीय मस्तिष्कों में प्रतिविम्बित होती हैं।

मुझे यह क्या हो गया है ? इस मालकिन की पुकार मुझे जहाँ सुन पड़ती है, मैं उसके पालतू कुत्ते की तरह वहीं जा पहुँचता हूँ और पूँछ हिलाने लगता हूँ। इस प्रतिष्ठा-पिशाची की

उँगली जिधर उठती है, उधर ही नाचने लगता हूँ। इसके बाजे की खड़क कान में पड़ते ही मेरे अङ्ग फड़क उठते हैं, मैं खड़ा हो जाता हूँ और बेबस उधर ही खिंचा चला जाता हूँ, वह स्थान फिर देश के किसी भी कोने में क्यों न हो गहन से गहन स्थल पर क्यों न हो।

'आप बड़े महात्मा हैं', 'आपके बिना यह कौन कर सकता था?' इन टेकों के गीत जी चाहता है कि दिन और रात कान में पड़ते रहें। तभी मैं जीवित रह सकता हूँ। जो मुझे प्रणाम कर जाते हैं, मैं इस विस्तृत दुनियाँ में केवल उन्हें ही कुछ समझदार मान सकता हूँ। केवल जरा प्रशंसा कर दो, फिर चाहे मेरा सब कुछ लूट ले जाओ। मैं सच बताता हूँ कि मुझे "कामिनी और काञ्चन" की कुछ इच्छा नहीं है, परन्तु यह लोकैषणा का भूत है, जो कि मुझ पर पूरे बल से सवार है। मैं इससे अब अवश्य छूटना चाहता हूँ, किन्तु इसके साज-सामान जहाँ दिखाई दे जाते हैं तो रहा नहीं जाता।

आओ, श्रद्धा से उन महर्षियों की चरण-धूलि सिर-माथे पर चढ़ावें, जिन्हें कि ऐसे तुच्छातितुच्छ प्रणामों की त्रिकाल में अपेक्षा नहीं; क्योंकि वे मनुष्य-देव हैं जिनका हृदयाधिष्ठित परमदेव—जिनका विमल अन्तरात्मा—हर समय उनके हर एक कृत्य की स्तुति करता है। फिर उन्हें क्या चिन्ता कि कोई और भी उन्हें पूछता है कि नहीं। जब अन्दर उनकी स्तुति का स्वर्गीय गान

निरन्तर हो रहा है, तो क्या परवाह कि कोई अन्यथा-सिद्ध शामिल बाजे उनकी प्रशंसा में बज रहे हैं कि नहीं।

वे उस अचल पद पर प्रतिष्ठित होते हैं कि यदि संसार के सब महाराजाधिराजे मिल कर उनके पैरों पर अपने मुकुट रखने के लिए ढूँढ़ते हुए हाथ जोड़ कर सामने उपस्थित हों, तो उनका कुछ सम्मान नहीं बढ़ता; अथवा यदि संसार के सब सभ्य पुरुष उन्हें 'जङ्गली' कहें या निन्दा का प्रस्ताव पास कर लें या कोई और हरकत करें तो उनका कुछ मान नहीं घटता।

वे अपने अन्तर्यामी देव से अनवरत मिलने वाली प्रतिष्ठा में ऐसे मगन हैं कि उन्हें कुछ मालूम ही नहीं होता कि उनके सिर पर फूल बरस रहे हैं या जूते, पैरों में सम्पूर्ण जनता पड़ी है या बेड़ी, लोग धन्य-धन्य पुकार रहे हैं या धिक्-धिक्।

वे अपने विशाल हृदय-प्रासाद के भीतर राजाओं के राज के समान ऐसी परिपूर्णता में विराजमान हैं कि कुछ अनुभव नहीं करते कि उनकी बाहरी दीवारों पर बच्चे कब कौन सा खेल खेल रहे हैं।

जब कभी ऐसे द्वन्द्वातीत महात्मा से एक बार साक्षात हो जाता है तो समझ में आ जाता है कि अनमोल मोती समुद्र के अथाह तलों में क्यों छिपे पड़े हैं—जिन्हें संसार के किसी भी मनुष्य से द्वेष नहीं, किसी तरह के प्राणी से भय नहीं, वे निर्जन प्रदेशों में क्यों भागे जाते हैं; जिन्हें बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त हैं वे उन्हें दिखला कर यश क्यों नहीं लूटते फिरते; जहाँ कोई परिचित,

सराहने वाले या बहुत सत्कार करने वाले लोगों के मिलने की आशङ्का होती है वहाँ से ये लोग क्यों बच-बच कर अपना रास्ता तै करते है ? सबका एक उत्तर है कि स्वयमेव इतने तृप्त हैं कि दूसरों द्वारा ऊपरी सम्मान के ठूँसे जाने से डरते हैं, क्योंकि हम उन्हें अपने जैसा खाली समझने के कारण सचमुच ऐसा ही करना चाहते हैं।

जब तू जरा से सम्मान से इतना हर्षाकुल हो जाता है तो जरा सी निन्दा के होने पर क्यों न कुम्हला जायगा ? इस कुम्हलाने का मूल तेरी उस हर्षाकुलता में है।

जब कोई तेरे नाम के अन्त मे 'जी' नहीं लगाता या अभिवादन करना भूल जाता है, तो तेरे सिर पर अपमान के घोर बादल मँडराने लगते हैं। और यदि सहभोज के निमन्त्रण-पत्र में तुझे भी याद कर लिया जाता है तो सारी दुनिया तुझे उस दिन उजली दिखाई देने लगती है और तू संसार में अपने को 'कुछ चीज' समझने लगता है। ए मेरे मन, तू इतना क्षुद्र है ! जब तू बरसाती नदी की तरह जरा से पर-प्रसाद से भरपूर हो जाता है और स्वल्प-से अभाव से सूख जाता है, तो मैं तुझ ऐसे तुच्छ को साथ लेकर संसार में क्या काम कर सकूँगा ?

हे त्रिभुवन-विधाता, मेरे हृदय को विशाल बना दे। हे कृष्ण भगवान् और महात्मा सुकरात के हृदयों को बनाने वाले, मेरे हृदय को समुद्र के समान गम्भीर और 'अचल-प्रतिष्ठ' बना दे,

जिससे कि प्रशंसा के रूप में हज़ारों नदी-नद इसमें आ-आकर के गिरें, किन्तु यह आपे से बाहर न हो, और सहस्रों निन्दक-रवि-किरणें अपनी पूरी तीक्ष्णता से दिन भर काम करें, किन्तु इसे जरा भी ताप न पहुँचा सकें। नहीं तो हे प्रभो, जरा सी बात से बढ़ने-घटने वाले इस क्षुद्र हृदय को लेकर मैं इस तेरे बड़े भारी संसार में किस काम आ सकूँगा।

सम्मान-बसन्त के आने पर असली और नकली का भेद खुल जाता है। नकली साधु इसे आया देख कर गर्व से 'कायँ-कायँ' करने लगते हैं, किन्तु सच्चे सन्त अपने को चारों दिशाओं में फूलों से घिरे हुए, मन्द पवन से बीज्यमान और ऊँचे पर बैठा हुआ पाकर गर्दन झुकाये मीठी बाणी बोल-बोल कर हृदय की कृतज्ञता प्रकाश करते हुऐ नहीं थकते।

इन नम्र महात्माओं को दिये गये प्रतिष्ठा और सम्मान उन पर क्षणभर भी नहीं ठहरते—पद्माकर के कमल-पत्र पर पड़े जल-बिन्दु के समान वे तुरन्त अपने असली धाम में जा पहुँचते हैं। वे उसके चरणों में जा गिरते हैं, जिसके चरणों में ये महात्मा स्वयं गिरे हुए हैं। इन सम्मानों से वे महात्मा स्वयं बिल्कुल बेलाग, निर्लेप और अस्पृष्ट रहते हैं।

जिन्होंने प्रतिष्ठा को प्राणान्त डसने वाली नागिनें बनते देखा है, वे महान् आश्चर्य में देखते हैं कि वे ही प्रतिष्ठाएँ इन सच्चे महात्माओं पर गले में उज्ज्वल पुष्पों का हार और परिवेष्ठित

आभूषण बन कर कैसे उतर रही हैं। यह किसका जादू है? क्या यह महात्माओं की करामात है? किन्तु महात्मा बताते हैं कि इसमें कोई अलौकिक बात दीखती है तो यह केवल बेलाग रहने की बात है, यही जादू है, यही करामात है।

पहिले जब मैं चुपचाप सुदूर ग्राम में दिन-रात तेरी पूजा करता था, वे मेरे सौभाग्य के दिन मैं ही जानता हूँ। किन्तु जब से झुण्ड के झुण्ड लोग दर्शन करने आने लगे और जगह-जगह बुलाया जाकर मैं सांसारिक स्वागत-सत्कारों में से गुजरने लगा, तब से तेरी यह पूजा विषम हो गई है। वह आनन्द मारा गया है। जैसी तेरी इच्छा, यदि तूने मुझे यही काम अब सौंपा है। किन्तु मुझे तेरी शान्त उपासना के वे दिन नहीं भूलते, जब कि तेरे—केवल तेरे—यहाँ से मुझपर प्रतिष्ठाओं की दिव्य वृष्टि होती थी—अन्य कोई मुझे न जानता था और न सत्कार के रूप में अपना मलिन जल मुझ पर बरसाता था।

किन्तु इससे भी बहुत पहले, जब कि मुझे तेरे चरणों की कुछ खबर न थी, एक दिन वह भी था जब मैं एक छोटी सी सभा के सभापति की कुर्सी पर बैठने के लिए ऐसे जा रहा था जैसे कि कोई दस दिन का भूखा एक रोटी के टुकड़े को पड़ा पाकर आतुरता से लपकता है। अहो उद्धारक! तेरी लीला!!

जब मैं किसी आदमी को देखता हूँ, जो कि केवल अपनी कोई त्रुटि बताने वाला न मिलने के कारण घमण्ड में अकड़ कर

चल रहा है, तो देख कर बड़ा तरस आता है और जी दुखता है। मुँह से अपने लिए यही प्रार्थना निकलती है—"हे विधाता, मुझे चाहे सदा किसी जङ्गल में रखना, किन्तु कभी चाटुकारों के बाड़े में घड़ी भर भी न घिरा रखना। यदि दुर्भाग्य से मेरे गुण और दोष दोनों बताने वाले सच्चे समालोचक न मिल सकें तो मुझे घोर निन्दकों के बीच में वास देना, किन्तु करुणाकर, उस भयंकर स्थान में कभी जगह न देना, जहाँ पर सब प्रश्नों का उत्तर 'जी हाँ', 'ठीक है' में मिलता है, जहाँ पर ऐसा सेन्सर (Censor) का प्रबन्ध है कि सिवाय 'वाढं वाढं' के और किसी भी प्रकार का समाचार लाने वाली हवा तक न मुझे पहुँच सके।"

जहाँ मेरे केवल काले पार्श्व पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ मेरा सब कालापन धीरे-धीरे उड़ जायगा और ठीक उसी तरह, जहाँ केवल सफ़ेद पार्श्व खुला रहता है, वहाँ मेरी सब धवलिमा नष्ट हो जायगी और मैं पूर्ण काला रह जाऊँगा, यद्यपि जी में मैं अपने को सफ़ेद समझता रहूँगा। ऐसे निरन्तर धोखे में रहना कितना भयंकर है ! इस धोखे से जब एकदम आँख खुलती है तो अपनी दशा देखकर सिवाय आत्मघात करने के और कुछ नहीं बन पड़ता।

मेरा शरीर पहिले ही निर्बल है, फिर यदि मैं हमेशा 'वाह-वाह की नमी आबहवा में रहूँगा और निन्दा के झोकों से कभी जलवायु-परिवर्तन न होता रहेगा तो, बताओ, मेरे अंग गल न जायँगे तो क्या होगा ?

तब कितनी आश्चर्यकारक बात होती है जब हम उनसे अपनी प्रशंसा चाहते हैं जिन्हें कि हम अच्छी तरह जानते हैं कि वे अज्ञानी और मूर्ख हैं। प्रशंसा के लालच में यह भी नहीं देखते कि हमें क्या चीज मिल रही है। मूर्खों की दी हुई प्रतिष्ठा का क्या मूल्य है ? जो बेचारा उस बात को समझ ही नहीं सकता वह हमारी क्या प्रशंसा करेगा और क्या निन्दा करेगा। अज्ञानी और स्वार्थी पुरुष जिस समय निन्दा, अपवाद फैलाने लगते हैं तो ज्ञानी लोग तो इसे बड़ा भारी शकुन समझते है।

हे प्रतिष्ठे, तुम्हारा भी संसार में कोई उचित स्थान है। यह वहाँ है जिस मौके पर अनुभवी वृद्ध पुरुष प्रसन्न होकर हमारे सिर पर हाथ फेरते हैं या सज्जन-मण्डल अपनी सराहना का प्रेम प्रदान करते हैं—जब कि इन आप्त पुरुषों से आदर की इच्छा और निरादर का भय हमें उत्साहपूर्वक सदा सन्मार्ग पर रक्खे रखते हैं। यही अवस्था है, जबकि हमें अपने विकास के लिए पर-दत्त प्रतिष्ठा की जरूरत है—जब कि बाल-पौधे की अवस्था में इस जल-सेक के समय-समय पर दिये जाने की जरूरत है।

—देवशर्मा 'अभय'

आँसू

मनुष्य के शरीर में आँसू भी गड़े हुए खजाने के माफिक है। जैसे कभी कोई नाजुक वक्त आ पड़ने पर सञ्चित पूँजी ही काम देती है, उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रकट करने में जब सब इन्द्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं, तब आँसू ही उन-उन भावों को प्रकट करने में सहायक होता है। चिरकाल के वियोग के उपरान्त जब किसी दिली दोस्त से मुलाकात होती है, तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफान में अङ्ग-अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं; वाष्प-गद्गद् कण्ठ रुँध जाता है; जिह्वा इतनी शिथिल पड़ जाती है कि उससे मिलने की खुशी को प्रकट करने के लिए एक-एक शब्द मनों बोझ-सा मालूम पड़ता है। पहले इसके कि शब्दों से वह अपना असीम आनन्द प्रकट करे, सहसा आँसू की नदी उसकी आँख में उमड़ आती है, और नेत्र के पवित्र जल से वह अपने प्राणप्रिय को नहलाता हुआ, उसे बगलगीर करने को हाथ फैलाता है। सच्चे भक्त और उपासक की कसौटी भी इसी से हो सकती है। अपने उपास्यदेव के नाम-सङ्कीर्तन में जिसे अश्रुपात न हुआ, मूर्ति-दर्शन कर प्रेमाश्रुपात से जिसने उसके चरण-कमलों का अभिषेक न किया, उस दाम्भिक को भक्ति के आभास-मात्र से क्या फल? सरल कोमल-चित्त वाले अपने मनोगत सुख-दुःख के भाव

को छिपाने की हज़ार-हज़ार चेष्टा करते हैं कि दूसरा कोई उनके चित्त की गहराई को न थाह सके, पर अश्रुपात भाव-गोपन की सब चेष्टा को व्यर्थ कर देता है। मोती-सी आँसू की बूँदें जिस समय सहसा नेत्र से झरने लगती हैं, उस समय उसे रोक लेना बड़े-बड़े गम्भीर प्रकृति वालों की भी शक्ति के बाहर होता है। भवभूति ने, जिनको प्रकृति का चित्र अपनी कविता में खींच देना खूब मालूम था, कई ठौर पर अश्रुपात का बहुत उत्तम वर्णन किया है, जिससे यही आशय निकलता है। यथा—

अयन्ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मात हृदयः॥
विलुलितमतिपूरैर्बाष्पमानन्दशोक
प्रभवमवसृजन्ती तृष्णयोत्तान दीर्घा।
स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते
धवल बहल मुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः॥

यदि सृष्टिकर्त्ता अत्यन्त शोक में अश्रुपात को प्राकृतिक न कर देता, तो वज्रपात-सम दारुण दुःख के वेग को कौन सँभाल सकता ? इसी भावार्थ का पोषक भवभूति का नीचे का यह श्लोक बहुत उत्तम है—

पूरोत्पीड़े तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥

अर्थात्—बरसात में तालाब जब लबालब भर जाता है, तो बाँध तोड़, उसका पानी बाहर निकाल देना ही सुगम उपाय बचाव का होता है। इसी तरह अत्यन्त शोक से क्षोभित तथा व्याकुल मनुष्य को अश्रुपात ही हृदय को विदीर्ण होने से बचा लेने का उपाय है। बल्कि ऐसे समय रोना ही राहत है। जैसा कि भवभूति ने लिखा है—

> इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा।
> प्रियाशोको जीवं कुसुममिव घर्मः क्लमयति।
> स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ
> स्तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभोहिरुदितम्॥

कोई शूरवीर, जिसको रणचर्चा-मात्र सुन जोश आ जाता है और जो लड़ाई में गोली तथा बाण की वर्षा को फूल की वर्षा मानता है, वीरता की उमंग में भरा हुआ युद्ध-यात्रा के लिए प्रस्थान करने को तैयार है। बिदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबा वालों के आँसू के एक-एक बूँद की क्या क़ीमत है, यह वही जान सकता है। वह शशोपञ्ज में पड़, आगे को पाँव रख फिर हटा लेता है। वीर और करुण—ये दो विरोधी रस, अपनी-अपनी ओर से उमड़-उमड़ कर देर तक उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ किए रहते हैं। आँख में आँसू उन्हीं अकुटिल सीधे सत्पुरुषों के आता है, जिनके सच्चे सरल चित्त में कपट और कुटिलाई ने स्थान नहीं पाया है। निठुर, निर्दयी, मक्कार की आँखें, जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना जाना नहीं, दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी?

प्रकृति ने चित्त का आँख के साथ कुछ ऐसा सीधा सम्बन्ध रख दिया है कि आँखें चित्त की वृत्तियों को चट पहचान लेती हैं और तत्काल तदाकार अपने को प्रगट करने में देर नहीं करतीं, तो निश्चय हुआ कि जो बे-कलेजे हैं, उनकी बैल-सी बड़ी-बड़ी आँखें केवल देखने ही को हैं, चित्त की वृत्तियों का उन पर कभी असर होता ही नहीं। चित्त के साथ आँख के सीधे सम्बन्ध को बिहारी कवि ने कई दोहों में प्रगट किया है। यथा—

कोटि जतन कीजे तऊ, नागरि नेह दुरै न।
कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन॥
दुहैं निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत-अचेत।
हौं कसि कै रिस कौ करौ, ये निरखत हँसि देत॥

मृतक के लिये लोग हज़ारों-लाखों रुपये ख़र्च कर आलीशान रौजे, मकबरे, कब्रें, सङ्गमरमर या सङ्गमूसा की बनवा देते हैं; क़ीमती पत्थर, मानिक, जमुर्रद से आरास्ता उन्हें करते हैं; पर वे मकबरे क्या उसकी रूह को उतनी ही राहत पहुँचा सकते हैं, जितनी उस के दोस्त आँसू के कतरे टपका कर पहुँचाते हैं?

इस आँसू में भी भेद है। कितनों का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते हैं। अक्षर उनके मुख से पीछे निकलेगा, आँसुओं की झड़ी पहले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आँसू निकलता है, मानो रोना उनके पास गिरों रहता है, इसका कारण यही है कि वे नाम ही की अबला और अधीर हैं। दुःख के वेग में आँसू को रोकने वाला केवल धीरज है। उसका टोटा

यहाँ हरदम रहता है। तब इनके आँसू का क्या ठिकाना! सत्वशाली धीरज वालों को आँसू कभी आता ही नहीं। कड़ी-से-कड़ी मुसीबत में दो-चार कतरे आँसू के मानों बड़ी बरकत हैं। बहुत मौकों पर आँसू ने गजब कर दिया है। सिकन्दर का कौल था कि अपनी माँ की आँख के एक कतरा आँसू की क़ीमत मैं बादशाहत से भी बढ़ कर मानता हूँ। रेणुका के अश्रुपात ही ने परशुराम से इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार कराया।

किसी को बैंगन बावले, किसी को बैंगन पत्थ।

बहुधा आँसू का गिरना भलाई और तारीफ में दाखिल है। हमारे लिए आँसू बड़ी बला है। नजले का जोर है, दिन-रात आँखों से आँसू टपकता है। ज्यों-ज्यों आँसू गिरता है, त्यों-त्यों बीनाई कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें कर चुके, आँसू का टपकना बन्द न हुआ। क्या जाने बङ्गाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे ही कपार में आकर भर रहा है। आँखों से आँसू चला ही करता है। आज हमने लेख में भी आँसू ही पर कलम चला दी। पढ़ने वाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।

—बालकृष्ण भट्ट

बाघ से भिड़न्त

सायङ्काल के चार बजे थे। स्कूल से लौट कर घर में गरम-गरम चाय पी रहा था। छोटी लड़की अपनी भोली और शुद्ध दृष्टि से, पास ही बैठी, खिलौने से खेल रही थी, और अपनी तोतली बोली में कह रही थी—"बाबूजी! इछे भी चाय दे दो, थन्द लग रही है।" मैं कुछ कहना ही चाहता था कि किसी ने बाहर से पुकारा—"मास्टर साहब! मास्टर साहब!! जरा बाहर आइए! एक आदमी आया है। बाघ की खबर लाया है।" बाघ का नाम सुन कर मैं उछल पड़ा। चाय का प्याला वहीं का वहीं रख कर झट से बाहर आया।

देखा, तो बाहर पश्मीने की चादर ओढ़े मेरे शिकारी मित्र पं० लक्ष्मीदत्त थपलियाल खड़े हैं, और उनकी बगल में एक हाड़ का कङ्काल—बूढ़ा—खड़ा है। उसकी मुखाकृति उसकी अन्त-र्वेदना की द्योतक थी। कष्ट, विपत्ति और समझ के उलट-फेर ने उसकी गति, तूफ़ान में फँसे जहाज़ की सी कर दी थी।

चिन्ता ने कौतूहल का स्थान लिया, और बातचीत से मालूम हुआ कि बाघ ने टिहरी से कुछ दूर एक ही साथ दो गायों का बध किया है।

एक तो दिनभर की थकावट, दूसरे कुसमय और तिस पर कड़ाके का जाड़ा—तबीयत बाहर निकलने को न करती थी, पर

उस बूढ़े की आँखों में एक खिंचाव था, जो हृदयतन्त्री के तारों को अपनी ओर खींच रहा था। वह खिंचाव प्रेम का आकर्षण सा न था, वरन् कम्पायमान, भावी आशङ्का से भयभीत बलि-पशु की आँखों से निकलती हुई मूक-याचना का खिंचावसा था। उसकी आँखें कह रही थीं, यदि तुम हृदयहीन नहीं हो तो हमारी रक्षा करो।

बन-बीहड़-सहचरी बन्दूक़ उठाई। कारतूस जेब में डाले, और लक्ष्मीदत्त जी तथा बूढ़े किसान को साथ लेकर जङ्गल की ओर चला। चला जाता था और मन-ही-मन सोचता जाता था कि संसार में जीवन-संग्राम-समस्या बड़ी विकट है। मनुष्य से लेकर कीड़े-मकोड़े तक उदरपूर्ति के लिए एक दूसरे के ख़ून के प्यासे होते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी पशु को मारता है तो पापी कहाता है। पर जब बाज और बाघ चिड़िया और गाय को मारते हैं, तब हम केवल यह कह कर ही चुप हो जाते हैं कि 'जीवो जीवस्य भोजनम्'। कल्पना-शक्ति अपनी उड़ान में हिंसा के मूल-तत्त्व के विश्लेषण की ओर उड़ रही थी कि बूढ़े ने कन्धे पर हाथ रख कर कहा—"मालिक, ऊपर देखो। ठीक उस डाँड़े पर मेरी बड़ी गाय मरी पड़ी है, और वहाँ से चार फर्लाङ्ग पर पहाड़ की दूसरी ओर दूसरी गाय पड़ी है।"

बूढ़े की बात सुनकर दार्शनिक बिचारों ने अपनी राह ली, और बाघ मारने की सूझी। लक्ष्मीदत्त जी और मुझमें चार-पाँच मिनट के लिए परामर्श हुआ। परामर्श क्या था, एक प्रकार

की युद्ध-कान्फ्रेन्स सी थी, जिसमें अपने शत्रु की सब चालों का ख़याल किया गया।

बाघ ने दो गाएँ मारो थीं। परामर्श से हम लोग इस नतीजे पर नहीं आये थे कि एक ही बाघ ने दो गायों को मारा है। सम्भव है, मारा हो। पहली गाय को मारने के पश्चात् यदि किसी प्रकार वह वहाँ से भगा दिया गया होगा, तो उसने दूसरी गाय को मार्ग में पाकर, पेट की अग्नि शान्त करने के लिए, उसको मार डाला हो और यह भी सम्भव था कि दूसरी गाय को किसो दूसरे बाघ ने मारा हो। मेरी राय यही थी और लक्ष्मीदत्त जी ने मुझे जनरल मान कर मेरी ही बात ठीक समझी।

दो बाघों की आशङ्का से हम लोगों ने अपने दल को दो भागों में विभक्त किया। लक्ष्मीदत्त जी तो दूसरी गाय की लाश की ओर चले, जो सामने की डाँड़े पर मरी पड़ी हुई गाय से चार फर्लाङ्ग दूर गाँव की ओर थी। मैं डाँड़े की ओर चला और यह निश्चय हुआ कि समय अधिक हो जाने पर लाश पर आज बैठना ठीक नहीं, क्योंकि बैठने के लिए स्थान दिन में चार बजे तक बन जाना चाहिए था, जिससे बाघ को किसी बात का शक न हो। स्मरण रहे, बाघ जङ्गल का कूटनीतिज्ञ चाणक्य है। छोटी सी हिलती पत्ती से, आसन बदलने से और कोई-कोई तो कहते हैं कि पलक की आवाज तक से, बाघ अपने शत्रु को समझ लेता है और फिर लाश पर नहीं आता। इसलिए बाघ

को मारने के लिए झाड़ी और काँटों से जो स्थान बनाते हैं, वह दिन में चार बजे तक बना लेते हैं और बनाते समय कुछ आदमी इधर-उधर बैठे रहते हैं कि जिससे बाघ यह समझे कि किसान घास काट रहे हैं। जब शिकारी छिप कर बैठ जाते हैं, तब और लोग बातें करते चले जाते हैं, जिससे बाघ समझे कि घास काटने वाले चले गये और उसका भोजन बेखटके पड़ा है। ऐसा होने पर भी बाघ एकदम शिकार पर नहीं आता। छिप-छिप कर और रुक-रुक कर चारों ओर देख-देख कर एक-एक गज़ बढ़ता है।

लक्ष्मीदत्त जी बूढ़े के साथ छोटी गाय की लाश की ओर चले। हम दोनों को गाँव में मिलना था।

मुझे एक मील के लगभग पहाड़ की चोटी पर पहुँचना था, और समय तङ्ग हो रहा था। जङ्गल में बाघ अपने शिकार पर चार-पाँच बजे ही आ जाता है, इसलिए मैं बड़ा चौकन्ना होकर चल रहा था। पहाड़ की चोटी पर डूबते हुए सूरज की लाल किरणें गजब ढा रही थीं। जीवन-ज्योति इसी प्रकार अन्तिम प्रकाश करके लीन हो जाती है। दार्शनिक बिचारों को फिर रोका और जीवन एवं मृत्यु—बाघ के शिकार—का प्रश्न सम्मुख आ गया। रात्रि-आगमन के चिन्ह चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहे थे। चिड़ियाँ झाड़ियों में चहचहा रही थीं। किसान थके-माँदे घर को लौट रहे थे। मैं चढ़ाई पर एक-एक पैर सँभाल कर रख रहा था। कहीं चुपचाप बाघ दिखाई पड़ जाय और बाघ मुझे न देख पाये, तो फिर एक बार जीवन की बाजी लगा कर

फायर कर दिया जाय। बाघ और शिकारी जब घात लगा कर चलते हैं, तब उनकी आकृति देखने योग्य होती है। मनुष्य तो मनुष्य की श्रेणी से—सद्भावनाओं और भावुकता के बिचार-जगत से—गिर कर पशु ही हो जाता है। स्नायु खिंचे हुए, पुट्ठे जकड़े हुए, ख़ूनी आँखें चारों ओर देखती हुईं, कान चौकन्ने, संसार की सब बातों—बाल-बच्चों, देश और राजनीति—को भूल कर शिकारी एक विचित्र प्राणी हो जाता है। कड़ी चढ़ाई पर मैं इसी दशा में चला जाता था। कभी-कभी रुक कर इधर-उधर देखता भी जाता था कि कहीं बाघ के दर्शन हो जायँ, तो मनोरथ सिद्ध हो जाय। आधी चढ़ाई चढ़ने के उपरान्त मैं एक चट्टान के किनारे रुका और मद्ध-दृष्टि से डाँड़े की चोटी की ओर देखा। एक झाड़ी के आसपास चिड़ियाँ कुछ विचित्र रूप से चिड़चिड़ा रही थीं। उधर जो देखा, तो हृदय की धड़कन एकदम बढ़ गई। सामने तीनसौ गज़ पर झाड़ी के सहारे बाघ खड़ा हुआ दिग्दर्शन कर रहा था और चिड़ियाँ अपनी शक्ति भर उस पर विरोध का प्रदर्शन कर रही थीं—मानों 'टोडी-बच्चा हाय-हाय' की पुकार मचा रही थीं। मेरे पास रायफल न थी—बन्दूक़ थी। रायफल न लाने की मूर्खता पर अपने को हज़ार बार कोसा, क्योंकि बारह नम्बर बन्दूक़ की मार इतनी दूर नहीं होती।

बाघ थोड़ी देर बाद अपने शिकार की ओर शाही शान से चला। मैंने अपना मार्ग छोड़, कुछ चक्कर काट कर, पहाड़ की चोटी पर पहुँचने की ठानी, जिससे कि बाघ पर बगल से,

छिप कर फायर किया जा सके। बाघ मुझसे तीनसौ गज़ ऊपर था। वह पहाड़ के ऊपर से ही अपने शिकार की ओर जा रहा था। मैंने आगे बढ़ कर उसके रास्ते में जाना चाहा।

दोनों को एक ही स्थान पर पहुँचना था। जिस प्रकार दो गलियों से और भिन्न दिशाओं से कोई चल कर गलियों के चौराहे पर मिलते हैं और जब तक आमने-सामने नहीं आ जाते तब तक एक दूसरे को नहीं देख सकते। ठीक इसी प्रकार मैं इस बिचार से मोड़ की ओर चला कि कहीं पीछे से पचास-साठ गज़ पर बाघ दिखाई पड़ा और मौका हुआ, तो उसे मारने की चेष्टा करूँगा। यह केवल अन्दाज-ही-अन्दाज था। यह स्वप्न में भी न बिचारा था कि अन्दाजा इतना ठीक निकलेगा। जूते उतार कर मैं ऊपर को लपका। जूते इसलिए उतार दिये कि तनिक भी आहट न हो। जब पहाड़ की चोटी का मोड़ पचास-साठ गज़ रह गया, मैं धीरे-धीरे एक-एक पैर गिन कर बन्दूक़ को बगल में दबाये और हाथ बन्दूक़ के घोड़े पर रखे हुए आगे बढ़ा। ख़याल था कि इतनी देर में बाघ मोड़ को पार कर गया होगा, और मैं मोड़ पर पहुँच कर उसके मार्ग को काट कर छिप कर बैठ जाऊँगा पर ज्योंही मैं मोड़ पर शिकारी आसन से पहुँचा, त्योंही दूसरी ओर से बाघ आगया। मैंने पहले बाघ को देखा। जङ्गल में स्वतन्त्र रूप से, अभिमान के साथ, मस्त चाल से चलते हुए मैंने बाघ को इतने समीप से पहले कभी न देखा था। झुकी हुई अधखुली आँखें, श्वेत दाँतों से कुछ बाहर निकली हुई लाल

जीभ और गजब के पुट्ठे—ऐसे पुट्ठे जो प्रत्येक युवक के होने चाहिये—साक्षात् यमराज की मूर्ति मेरे सामने आ गई। हृदय की धड़कन तो कुछ सैकिण्डों के लिए न मालूम कितनी तीव्र हो गई। बाघ से मुझे सहसा भय नहीं लगता। पर इस आकस्मिक स्वागत के लिए मैं तैयार न था। ऐसे अवसरों पर मनुष्य बुद्धि से काम नहीं ले सकता। ऐसे अवसर उसे बुद्धिहीन कर देते हैं। सोचने का समय तो घर और सभा-समितियों में ही हुआ करता है। ऐसे मौके पर मनुष्य को सहायक पशु-बुद्धि (Instinct) ही होती है और प्रेरक कोई विशेष शक्ति। ज्योंही बाघ की दृष्टि मुझ पर पड़ी, त्योंही वह गरज कर पिछले पाँव खड़ा हो गया। अगले पञ्जों के नाखून निकाल कर, पूँछ को इस प्रकार हिलाता हुआ, जिस प्रकार बिल्ली चिड़िया की घात में बैठी हुई अपनी पूँछ हिलाती रहती है, मेरे सामने मुंह फाड़ कर खड़ा हो गया। बाघ मेरे इतने समीप था कि मैं बन्दूक़ की नाल से उसे छू सकता था। पहले तो मैं काँपा और यह मालूम होता था कि हृदय नीचे, पैरों की ओर, भीतर ही भीतर सरक रहा है। इसका कारण आकस्मिक मुठभेड़ थी। बाद को निराशाजन्य साहस अथवा उद्वेग ने मुझे मृत्यु का सामना करने योग्य ऐसे बना दिया, जैसे हरिन अपने बचाव का कोई उपाय न पाकर, दौड़ना न छोड़ कर, मारने पर उतारू हो जाता है। मैंने समझ लिया कि मैं फायर करूँ अथवा न करूँ—बाघ मुझे मार ही देगा और मेरे मरने की खबर स्त्री, बच्चों, घरवालों और इष्ट-मित्रों

को मेरे शरीर की बची-खुची हड्डियां और मूक बन्दूक़ देगी, और इस जीवन का अन्त—जिसका आदर्श निरीह किसानों की सेवा करना बना रक्खा था—इस प्रकार अकेले पहाड़ और पत्थरों में जो हज़ारों वर्ष से ऐसे ही काण्ड देखते हुये हृदयहीन हो गये हैं, होगा।

उधर बाघ ने भी समझा कि यह दो पैर का प्राणी काली-काली लोहे की वस्तु लिए उसकी जान की खातिर आया है, उसके ख़ून का प्यासा है। उसके मुँह से ग्रास छीने तो छीने, पर उसकी जान का गाहक—यह दो पैर का जीव—इस प्रकार अपमान करके उसे मारने आया है। यह नहीं हो सकता। इस अपमान और धृष्टता का एक ही उत्तर था, और वह यह कि वह अपने शत्रु की सत्ता ही मिटा दे।

इधर मैंने खयाल किया कि यदि फायर किया तो बाघ गिरते हुए भी एक चोट करेगा, और यदि वह मेरे ख़ून को न भी पी सकेगा, तो नीचे खड्ड में तो गिरा ही देगा। खड्ड में एक मील नीचे गिरने पर मेरे अन्त का पता भी कोई न देगा, इसलिए घोड़ा चढ़ाये खड़ा था कि पहले मैं आक्रमण न करूँगा। यदि बाघ मुझ पर झपटा, तो फायर करूँगा और आत्म-रक्षा के लिए जो कुछ बन पड़ेगा, करूँगा। बन्दीगृह में जब दारा का सिर काटने के लिए औरङ्गजेब के भेजे हुए आदमी आए, तो दारा के पास शाक काटने का चाकू था। दारा उसी से लड़ा। तलवार के सामने उसकी कुछ न चली, पर दारा वीर की भाँति

लड़ता ही रहा। प्रत्येक व्यक्ति का यही कर्तव्य होना चाहिए। इस कर्म-विपाक-विमर्श के लिए न तो समय ही था और न उस समय दिमाग ही। इस घटना को लिखने और पढ़ने में देर लगती है, पर ये सब बातें एक मिनट में हुईं। कम ही समय लगा होगा, अधिक नहीं।

एक मिनट तक हम दोनों डटे रहे। बाघ गुर्रा रहा था। उसकी आँखों से ज्वाला सी निकल रही थी। मैंने फायर न किया और न उसने आक्रमण। यह एक मिनट युग के समान था। अन्त में बाघ एकदम मुड़ कर भागा। ज्यों ही वह मुड़ा, मैंने समझा कि बस मेरे ऊपर आया। बन्दूक़ दाग ही तो दी। जङ्गल गूँज गया। गोली बाघ के पेट में लगी। मैंने बाघ को गिरते देखा। बन्दूक़ छोड़ मैं नीचे को दौड़ा, पर गिर कर लुढ़कने लगा। जिस बात का डर था, वही हुआ—खड्ड की ओर मैं फुट-बॉल की भाँति ढरकने लगा। चालीस-पचास गज़ लुढ़का हूँगा कि हृदय दहलाने वाली बाघ की गरजन कान पर मालूम हुई।

मौत के अनेक बहाने होते हैं और जीवन-रक्षा के अनेक सहारे। यदि जीवन होता है, तो मनुष्य पहाड़ की चोटी से गिर कर बच जाता है, और मरने के लिए सीढ़ियों से गिरना ही काफी है। मुझे बचना था। भगवान् को यह मञ्जूर था कि मैं बचा रहूँ। सामने खड्ड की ओर तेजी के साथ लुढ़कने के मार्ग में एक चीड़ का वृक्ष था। इतना होश-हवास तो था ही। आठ-दस गज़ ऊपर से पेड़ देख लिया। उसी ओर को जाने के लिए हाथ-

पैर पीटे और उस पेड़ से आकर टकराया। पीछे से बाघ के घिसटने की सरसराहट हो रही थी। पेड़ से ठोकर खाकर रुका, झटपट ऊपर चढ़ा। इतने ही में विद्युत्-गति से बाघ भी आ गया और उचक कर मुझ पर पञ्जा मारा। उसके पञ्जे में मेरा नैकर आया। नैकर फट गया, और मैं ऊपर निकल गया। बाघ की कमर टूट गई थी, इसलिए वह पेड़ पर न चढ़ सका। पेड़ पर ऊपर बैठ कर मैंने दम लिया और तब चोट और ख़ून की ओर ध्यान गया। पेड़ के नीचे बाघ पड़ा हुआ अन्तिम श्वास ले रहा था। मेरे मन में बिचारों का सागर उमड़ पड़ा, पर उनके लिखने की आवश्यकता नहीं। रात्रि के नौ बजे तक जाड़े में उस पेड़ पर टँगा रहा; लक्ष्मीदत्त जी ने आठ बजे तक प्रतीक्षा की, और वह भी इसलिये कि शिकारी और भिखारी का कुछ ठिकाना नहीं कि कहाँ जा निकले। छै बजे, नहीं तो सात बजे तक, मुझे पहुँचना चाहिए था। इसलिए चिन्तित होकर लालटेन और दो आदमियों को लेकर वे मेरी खोज में निकले और नौ बजे मुझे पेड़ पर टँगा और बाघ को नीचे मरा हुआ पाया। बड़ी कठिनता से उतारा। बन्दूक़ की तलाश प्रातःकाल पर छोड़ी गई। उस बूढ़े ने बाघ के न मालूम कितनी लातें मारीं और उसके बाप-दादों को गालियों से पेट भर कर कोसा।

घर लौट कर थोड़ी बहुत सेंक-सांक की। गुड़ के साथ दूध पिया। गृहिणी ने उस दिन ऐसी सेवा की, मानो मुझे बाघ ने घायल कर दिया हो। अगले दिन लक्ष्मीदत्त जी और मैंने दूसरे

बाघ को मारा ; लक्ष्मीदत्त जी ने विकट साहस दिखाया था—घायल होकर भी बाघ को मार दिया।

—श्रीराम शर्मा

बिचार-तरङ्ग

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से सन्ध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भङ्ग रगड़ी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ़ हो रहा था। बादाम-इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारङ्गियाँ छील-छील कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर भंग उधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़-धड़धड़ होने लगी। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई। बम-भोला कह के शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल-डिग्गी पर बड़े लाट मिण्टों ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में ये दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूँदें गिरी थीं और लॉर्ड मिण्टो के सिर या छाते पर।

भङ्ग छान कर महाराज जी ने खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। अचानक धड़धड़-तड़-ड़ के शब्दों ने कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोंकों से किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे के टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के किवाड़ खोल कर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंकों ने दस-बीस बूँदों और दो-चार ओलों से शर्मा जी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के भीतर भी ओलों की एक बौछार पहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये, तथापि एक शीशा चूर हुआ। समझ में आ गया कि ओलों की बौछार चल रही है। इतने में ठन-ठन करके दस बजे। शर्मा जी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुये। कान टीन और ओलों के सम्मिलन की ठनाठन का मधुर शब्द सुनने लगे। आँखें बन्द, हाथ-पाँव सुख में। पर बिचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में बेचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गए होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरों में चले गए होंगे, पर चीलें कहाँ गई होंगी? ओलों से उनके बाजू कैसे बचे होंगे? जो पत्ती इस समय अपने अण्डे-बच्चों समेत पेड़ों पर पत्तों की झाड़ में हैं या घोंसले में छिपे हुए हैं, उन पर क्या गुजरी होगी? जरूर झड़े हुए फलों के ढेर में कल सवेरे इन बदनसीबों के टूटे अण्डे, मरे बच्चे और इनके भीगते-सिसकते शरीर पड़े मिलेंगे।

हा ! शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सैकड़ों अट्टालिकाएँ शून्य पड़ी हैं। उनमें सहस्रों मनुष्य सो सकते, पर उनमें ताले लगे हैं और सहस्रों में केवल दो-दो, चार-चार आदमी रहते हैं। अहो, तिस पर भी इस देश की मट्टी से बने हुए सहस्रों अभागे सड़कों के किनारे इधर-उधर की सड़ी और गली भूमियों में पड़े भीगते हैं। मैले चिथड़े लपेटे वायु, वर्षा और ओलों का सामना करते हैं। सवेरे इनमें से कितनों ही की लाशें जहाँ-तहाँ पड़ी मिलेंगी। तू इस चारपाई पर मौजें उड़ा रहा है।

आन-की-आन में बिचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत, तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ? कभी कोई हर्ष-सूचक बात दस-बीस पलक के लिए चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिए। प्यारी भङ्ग, तेरी कृपा से कभी-कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर हो जाती है। इसीसे तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अधबूढ़ा भङ्गड़ क्या सुख का भूखा है? घावों से चूर जैसे नींद में पड़ कर अनेक कष्ट भूल जाता है, अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी उसी प्रकार कभी-कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। बिचार आया कि काल अनन्त है। जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक

समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी, इससे भी घोर अँधेरी, भादों कृष्णा अष्टमी की अर्धरात्रि। चारों ओर अन्धकार, वर्षा होती थी, बिजली कौंदती थी, घन गरजते थे, यमुना उत्ताल तरङ्गों से बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष, एक नवजात शिशु को गोद में लिये, मथुरा के कारागार से निकल रहा था। शिशु की माता शिशु के उत्पन्न होने के हर्ष को भूल कर, दुःख से विह्वल होकर, चुपके-चुपके आँसू गिराती, पुकार कर रो भी नहीं सकती थी। बालक उसने उस पुरुष को अर्पण किया और कलेजे पर हाथ रख कर बैठ गई। सुध आने के समय से उसने कारागार में ही आयु बिताई है। उसके कितने ही बालक वहीं उत्पन्न हुए और वहीं उसकी आँखों के सामने मारे गये। यह अन्तिम बालक है। कड़ा कारागार, विकट पहरा। पर इस बालक को वह किसी प्रकार बचाना चाहती है। इसीसे उस बालक को उसके पिता की गोद में दिया है कि वह उसे किसी निरापद स्थान में पहुँचा आवे।

वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज बसुदेव थे और नवजात शिशु था कृष्ण। उसी को उस कठिन दशा में, उस भयानक काली रात में, वह गोकुल पहुँचाने जाते हैं। कैसा कठिन समय था। पर दृढ़ता सब विपदाओं को जीत लेती है, सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है। बसुदेव सब कष्टों को सह कर,

यमुना पार करके, भीगते हुए उस बालक को गोकुल पहुँचा कर उसी रात कारागार में लौट आये। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रज का प्यारा हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल-मुकुट हुआ, उस समय राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ, उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ, उसकी पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्व-प्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव, स्वामी और सर्वस्व। वह कारागार भारत-सन्तान के लिए तीर्थ हुआ, वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई—

बर ज़मीने कि निशाने कफ़े पाये तो बुवद।
सालहा सिजदए-साहिब नज़राँ ख़्वाहद बूद॥

(जिस भूमि पर तेरा पद-चिन्ह है, दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक उस पर अपना मस्तक टेकेंगे।)

—बालमुकुन्द गुप्त

वज्रपात

दिल्ली की गलियाँ दिल्ली-निवासियों के रुधिर से प्लावित हो रही हैं। नादिरशाह की सेना ने सारे नगर में आतङ्क जमा रक्खा है। जो कोई सामने आ जाता है, उसे उनकी तलवार के घाट उतरना पड़ता है। नादिरशाह का प्रचण्ड क्रोध किसी भाँति

शान्त नहीं होता। रक्त की वर्षा भी उसके कोप की आग को बुझा नहीं सकती।

नादिरशाह दरबार-आम में तख़्त पर बैठा हुआ है। उसकी आँखों से जैसे ज्वालाएँ निकल रही हैं। दिल्ली वालों की इतनी हिम्मत कि उसके सिपाहियों का अपमान करें! उन कापुरुषों की यह मजाल! यही काफिर तो उसकी सेना की एक ललकार पर रण-क्षेत्र से निकल भागे थे। नगर निवासियों का आर्तनाद सुन-सुन कर स्वयं सेना के दिल काँप जाते हैं; मगर नादिरशाह की क्रोधाग्नि शान्त नहीं होती। यहाँ तक कि उसका सेनापति भी उसके सम्मुख जाने का साहस नहीं कर सकता। वीर पुरुष दयालु होते हैं। असहायों पर, दुर्बलों पर, स्त्रियों पर उन्हें क्रोध नहीं आता। इन पर क्रोध करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। किन्तु निष्ठुर नादिरशाह की वीरता दया-शून्य थी।

दिल्ली का बादशाह सिर झुकाये नादिरशाह के पास बैठा हुआ था। हरमसरा में विलास करनेवाला बादशाह नादिरशाह की अविनय पूर्ण बातें सुन रहा था; पर मजाल न थी कि जबान खोल सके। उसे अपनी ही जान के लाले पड़े थे, पीड़ित प्रजा की रक्षा कौन करे? वह सोचता था, मेरे मुँह से कुछ निकले, और यह मुझी को डाट बैठे, तो?

अन्त को जब सेना की पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठा को पहुंच गई, तो मुहम्मदशाह के वजीर से न रहा गया। वह कविता का

मर्मज्ञ था, खुद भी कवि था। जान पर खेल कर नादिरशाह के सामने पहुंचा, और उसने यह शेर पढ़ा—

कसे न मॉंद कि दीगर ब तेग़ नाज़ कुशी ;
मगर कि ज़िन्दा कुनी ख़ल्क रा व बाज कुशी।

अर्थात् तेरी निगाहों की तलवार से कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दों को फिर जिला कर कत्ल कर।

शेर ने दिल पर चोट की। पत्थर में भी सूराख होते हैं; पहाड़ों में भी हरियाली होती है; पाषाण-हृदय में भी रस होता है। इस शेर ने पत्थर को पिघला दिया। नादिरशाह ने सेनापति को बुला कर कत्लआम बन्द करने का हुक्म दिया। एकदम तलवारें म्यान में चली गईं। कातिलों के उठे हुए हाथ उठे ही रह गये। जो सिपाही जहाँ था, वहीं बुत बन गया।

शाम हो गई थी। नादिरशाह शाही बाग़ में सैर कर रहा था। बार-बार वही शेर पढ़ता और झूमता था।

कसे न मॉंद कि दीगर ब तेग़ नाज़ कुशी ;
मगर कि ज़िन्दा कुनी ख़ल्क रा व बाज कुशी।

(२)

दिल्ली का खजाना लुट रहा है। शाही महल पर पहरा है, कोई अन्दर से बाहर या बाहर से अन्दर आ जा नहीं सकता। बेगमें भी अपने महलों से बाहर बाग़ में निकलने की हिम्मत नहीं कर सकतीं। महज खजाने पर ही आफत नहीं आई हुई है, सोने-चाँदी के बरतनों, बेश-क़ीमती तसवीरों और आरा-

इश की अन्य सामग्रियों पर भी हाथ साफ़ किया जा रहा है। नादिरशाह तख़्त पर बैठा हुआ हीरे और जवाहरात के ढेरों को गौर से देख रहा है; पर वह चीज नजर नहीं आती, जिसके लिए मुद्दत से उसका चित्त लालायित हो रहा था। उसने मुग़ल-आजम नाम के हीरे की प्रशंसा, उसकी करामातों की चरचा, सुनी थी— उसको धारण करने वाला मनुष्य दीर्घजीवी होता है, कोई रोग उसके निकट नहीं आता, उस रत्न में पुत्रदायिनी शक्ति है, इत्यादि। दिल्ली पर आक्रमण करने के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ इस रत्न को प्राप्त करना भी एक कारण था। सोने-चाँदी के ढेरों और बहुमूल्य रत्नों की चमक-दमक से उसकी आँखें भले ही चौंधिया जायँ, पर हृदय उल्लसित न होता था। उसे तो मुग़ल-आजम की धुन थी, और मुग़ल-आजम का वहाँ कहीं पता न था। वह क्रोध से उन्मत्त हो होकर शाही मन्त्रियों की ओर देखता और अपने अफ़सरों को झिड़कियाँ देता था; पर अपना अभिप्राय खोल कर न कह सकता था। किसी की समझ में न आता था कि वह इतना आतुर क्यों हो रहा है। यह तो खुशी से फूले न समाने का अवसर है। अतुल सम्पत्ति सामने पड़ी हुई है, संख्या में इतनी सामर्थ्य नहीं कि उसकी गणना कर सके। संसार का कोई भी महीपति इस विपुल धन का एक अंश भी पाकर अपने को भाग्यशाली समझता, परन्तु यह पुरुष, जिसने इस धन-राशि का शतांश भी पहले कभी आँखों से न देखा होगा, जिसकी उम्र भेड़ें चराने में ही गुजरी, क्यों इतना

उदासीन है ? आखिर जब रात हुई बादशाह का खजाना खाली हो गया, और उस रत्न के दर्शन न हुए, तो नादिरशाह की क्रोधाग्नि फिर भड़क उठी। उसने बादशाह के मन्त्री को—उसी मन्त्री को, जिसकी काव्य-मर्मज्ञता ने प्रजा के प्राण बचाये थे—एकान्त में बुलाया, और कहा—मेरा गुस्सा तुम देख चुके हो। अगर फिर उसे नहीं देखना चाहते, तो लाजिम है कि मेरे साथ कामिल सफ़ाई का बरताव करो। वरना अगर दोबारा यह शोला भड़का, तो दिल्ली की खैरियत नहीं।

वजीर—जहांपनाह, गुलामों से तो कोई खता सरजद नहीं हुई। खजाने की सब कुञ्जियां जनाबेआली के सिपहसालार के हवाले कर दी गई हैं।

नादिर—तुमने मेरे साथ दगा की है।

वजीर—(त्योरी चढ़ा कर) आपके हाथ में तलवार है, और हम कमजोर हैं, जो चाहे फरमाव ; पर इस इलजाम के तसलीम करने में मुझे उज्र है।

नादिर—क्या उसके सबूत की जरूरत है ?

वजीर—जी हाँ, क्योंकि दगा की सजा कत्ल है, और कोई बिला सबब अपने कत्ल पर रजामन्द न होगा।

नादिर—इसका सबूत मेरे पास है, हालांकि नादिर ने कभी किसी को सबूत नहीं दिया। वह अपनी मरजी का बादशाह है, और किसी को सबूत देना अपनी शान के खिलाफ समझता है।

पर यहाँ पर जाती मुआमला है। तुमने मुग़ल-आजम हीरा क्यों छिपा दिया ?

वजीर के चेहरे का रङ्ग उड़ गया। वह सोचने लगा—यह हीरा बादशाह को जान से भी ज्यादा अजीज है। वह इसे एक क्षण भी अपने पास से जुदा नहीं करते। उनसे क्योंकर कहूँ ? उन्हें कितना सदमा होगा ! मुल्क गया, खजाना गया, इज्जत गई। बादशाही की यही एक निशानी उनके पास रह गई है। उनसे कैसे कहूँ। मुमकिन है, वह गुस्से में आकर इसे कहीं फेंक दें, या तुड़वा डालें। इन्सान की आदत है कि वह अपनी चीज दुश्मन को देने की अपेक्षा उसे नष्ट कर देना अच्छा समझता है। बादशाह बादशाह है। मुल्क न सही, अधिकार न सही, सेना न सही; पर जिन्दगी भर की स्वेच्छाचारिता एक दिन में नहीं मिट सकती। यदि नादिर को हीरा न मिला, तो वह न जाने दिल्ली पर क्या सितम ढावे। आह ! उसकी कल्पना ही से रोमाञ्च हो जाता है। खुदा न करे, दिल्ली को यह देखना पड़े।

सहसा नादिर ने पूछा—मैं तुम्हारे जवाब का मुन्तजिर हूँ। क्या यह तुम्हारी दग़ा का काफी सबूत नहीं है ?

वजीर—जहाँपनाह, वह हीरा बादशाह सलामत को जान से ज्यादा अजीज है। वह उसे हमेशा अपने पास रखते हैं।

नादिर—झूठ मत बोलो। हीरा बादशाह के लिए है, बादशाह हीरे के लिए नहीं। बादशाह को हीरा जान से भी ज्यादा अजीज है—का मतलब सिर्फ इतना है कि वह बादशाह को

बहुत अजीज है और यह कोई वजह नहीं कि मैं उस हीरे को उनसे न लूँ। अगर बादशाह यों न देंगे, तो मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना होगा, तुम जाकर इस मुआमले में उसी नाज़ुकफ़हमी से काम लो, जो तुमने कल दिखाई थी। आह, कितना लाजवाब शेर था—

कसे न माँद कि दीग़र ब तेग़े नाज़ कुशी;
मगर कि ज़िन्दा कुनी ख़ल्क रा व बाज कुशी।

(३)

मन्त्री सोचता हुआ चला कि यह समस्या क्योंकर हल करूँ? बादशाह के दीवानखाने में पहुँचा, तो देखा, बादशाह उसी हीरे को हाथ में लिए चिन्ता में मग्न बैठे हुए हैं।

बादशाह को इस वक्त हीरे की फिक्र थी। लुटे हुए पथिक की भाँति वह अपनी यह लकड़ी हाथ से न देना चाहता था। वह जानता था कि खजाने में इसे न पाकर उसके क्रोध की सीमा न रहेगी। लेकिन, सब जानते हुए भी, वह हीरे को हाथ से न जाने देना चाहता था। अन्त को उसने निश्चय किया, मैं इसे न दूँगा, चाहे मेरी जान ही पर क्यों न बन जाय। रोगी की इस अन्तिम साँस को न निकलने दूंगा। हाय कहाँ छिपाऊँ? इतना बड़ा मकान है कि उसमें एक नगर समा सकता है; पर इस नन्हीं सी चीज के लिए कहीं जगह नहीं जैसे किसी अभागे को इतनी बड़ी दुनियाँ में भी कहीं पनाह नहीं मिलती। किसी सुर-

क्षित स्थान में न रख कर क्यों न इसे किसी ऐसी जगह रख दूँ, जहाँ किसी का खयाल ही न पहुँचे। कौन अनुमान कर सकता है कि मैंने हीरे को अपनी सुराही में रक्खा होगा? अच्छा, हुक्के की फर्शी में क्यों न डाल दूँ? फरिश्तों को भी खबर न होगी।

यह निश्चय करके उसने हीरे को फर्शी में डाल दिया। पर तुरन्त ही उसे शङ्का हुई कि ऐसे बहुमूल्य रत्न को इस जगह रखना उचित नहीं। कौन जाने, जालिम को मेरी यह गुड़गुड़ी ही पसन्द आ जाय। उसने तुरन्त गुड़गुड़ी का पानी तश्तरी में उँडेल दिया और हीरे को निकाल लिया। पानी की दुर्गन्ध उड़ी; पर इतनी हिम्मत न पड़ती थी कि ख़िदमतगार को बुलाकर पानी फिकवा दे। भय होता था, कहीं वह ताड़ न जाय।

वह इसी दुबिधा में पड़ा हुआ था कि मन्त्री ने आकर बन्दगी की। बादशाह को उस पर पूरा विश्वास था; किन्तु उसे अपनी क्षुद्रता पर इतनी लज्जा आई कि वह इस रहस्य को उस पर भी न प्रकट कर सका, गुमशुम होकर उसकी ओर ताकने लगा।

मन्त्री ने बात छेड़ी—आज खजाने में हीरा न मिला, तो नादिर बहुत झल्लाया। कहने लगा—तुमने मेरे साथ दगा की है, मैं शहर लुटवा लूँगा, कत्ल-आम कर दूंगा, सारे शहर को खाक-सियाह कर डालूँगा। मैंने कहा–जनाबेआली को अख़्तियार है, जो चाहें, करें। पर हमने खजाने की सब कुञ्जियाँ आपके सिपहसालार को दे दी हैं। वह कुछ साफ़-साफ़ तो कहता न था; बस, कनातों में बातें कर रहा था, और भूखे गीदड़ की

तरह इधर-उधर बौखलाया फिरता था कि किसे पावे, और नोच खाय।

मुहम्मदशाह—मुझे तो उसके सामने बैठते हुए ऐसा खौफ मालूम होता है, गोया किसी शेर का सामना हो। जालिम की आँखें कितनी तुन्द और गज़बनाक हैं। आदमी क्या है, शैतान है। खैर, मैं भी उसी उधेड़-बुन में पड़ा हुआ हूँ कि इसे क्योंकर छिपाऊँ। सल्तनत जाय, ग़म नहीं; पर इस हीरे को मैं उस वक्त तक न दूंगा, जब तक कोई मेरी गरदन पर सवार होकर इसे छीन न ले।

वजीर—खुदा न करे कि हुज़ूर के दुश्मनों को यह जिल्लत उठानी पड़े। मैं एक तरकीब बतलाऊँ। हुज़ूर इसे अपने अमामे (पगड़ी) में रख लें। वहाँ तक उसके फरिश्तों का भी खयाल न पहुँचेगा।

मुहम्मदशाह—(उछल कर) वल्लाह, तुमने खूब सोचा; वाकई तुम्हें खूब सूझी। हजरत इधर-उधर टटोलने के बाद अपना सा मुँह लेकर रह जायँगे। मेरे अमामे को कौन देखेगा? इसी से तो मैंने तुम्हें लुकमान का खिताब दिया है। बस, यही तय रहा। कहीं तुम जरा देर पहले आ जाते, तो मुझे इतना दर्द-सर न उठाना पड़ता।

(४)

दूसरे ही दिन दोनों बादशाहों में सुलह हो गई। वजीर नादिरशाह के कदमों पर गिर पड़ा, और अर्ज की—अब इस

डूबती हुई किश्ती को आप ही पार लगा सकते हैं; वरना इसका अल्लाह ही बेली है। हिन्दुओं ने सिर उठाना शुरू कर दिया है; मरहठे, राजपूत, सिख, सभी अपनी-अपनी ताक़तों को मुकम्मिल कर रहे हैं। जिस दिन उनमें मेल-मिलाप हुआ, उसी दिन यह नाव भँवर में पड़ जायगी, और दो-चार चक्कर खाकर हमेशा के लिए नीचे बैठ जायगी।

नादिरशाह को ईरान से चले अरसा हो गया था। वहाँ से रोजाना बाग़ियों की बग़ावत की खबरें आ रही थीं। नादिरशाह जल्द वहाँ लौट जाना चाहता था। इस समय उसे दिल्ली में अपनी सल्तनत कायम करने का अवकाश न था। सुलह पर राजी हो गया। सन्धि-पत्र पर दोनों बादशाहों ने हस्ताक्षर कर दिये।

दोनों बादशाहों ने एक ही साथ नमाज पढ़ी, एक ही दस्तरख्वान पर खाना खाया, एक ही हुक्का पिया, और एक दूसरे से गले मिलकर अपने-अपने स्थान को चले।

मुहम्मदशाह खुश था। राज्य बच जाने की उतनी खुशी न थी, जितनी हीरे के बच जाने की।

मगर नादिरशाह हीरा न पाकर भी दुखी न था। सबसे हँस-हँस कर बातें करता था, मानों शील और विनय का साक्षात् अवतार है।

(५)

प्रातःकाल है; दिल्ली में नौबतें झड़ रही हैं। खुशी की महफिलें सजाई जा रही हैं। तीन दिन पहले यहाँ रक्त की नदी

बही थी। आज आनन्द की लहरें उठ रही हैं। आज नादिरशाह दिल्ली से रुखसत हो रहा है।

अशर्फियों से लदे हुए ऊँटों की कतार शाही महल के सामने रवाना होने को तैयार खड़ी है। बहुमूल्य वस्तुएँ गाड़ियों में लदी हुई हैं। दोनों तरफ की फ़ौजें गले मिल रही हैं। अभी कल दोनों पक्ष एक दूसरे के ख़ून के प्यासे थे। आज भाई-भाई हो रहे हैं।

नादिरशाह तख़्त पर बैठा हुआ है। मुहम्मदशाह भी उसी तख़्त पर उसकी बगल में बैठे हुए हैं। यहाँ भी परस्पर प्रेम का व्यवहार है। नादिरशाह ने मुस्करा कर कहा—खुदा करे, यह सुलह हमेशा कायम रहे और लोगों के दिलों से इन ख़ूनी दिनों की याद मिट जाय।

मुहम्मदशाह—मेरी तरफ से ऐसी कोई बात न होगी जो सुलह को खतरे में डाले। मैं खुदा से यह दोस्ती कायम रखने के लिए हमेशा दुआ करता रहूँगा।

नादिरशाह—सुलह की जितनी शर्तें थीं, सब पूरी हो चुकीं। सिर्फ़ एक बात बाकी है। मेरे यहाँ दस्तूर है कि सुलह के वक्त अमामे बदल लिए जाते हैं, इसके बगैर सुलह की कारवाई पूरी नहीं होती। आइए, हम लोग भी अपने-अपने अमामे बदल लें। लीजिए, यह मेरा अमामा हाजिर है।

यह कह कर नादिर ने अपना अमामा उतार कर मुहम्मदशाह की तरफ बढ़ाया। बादशाह के हाथों के तोते उड़ गये। समझ

गया, मुझसे दगा की गई। दोनों तरफ से शूर-सामन्त सामने खड़े थे; न कुछ कहते बनता था, न सुनते। बचने का कोई उपाय न था और न कोई उपाय सोच निकालने का अवसर ही। कोई जवाब न सूझा। इनकार की गुञ्जाइश न थी। मन मसोस कर रह गया। चुपके से अमामा सिर से उतारा, और नादिरशाह की तरफ बढ़ा दिया। हाथ काँप रहे थे, आँखों में क्रोध और विषाद के आँसू भरे हुए थे। मुख पर हलकी सी मुस्कराहट झलक रही थी—वह मुस्कराहट, जो अश्रुपात से भी कहीं अधिक करुण और व्यथापूर्ण होती है। कदाचित् अपने प्राण निकाल कर देने में भी उसे इससे अधिक पीड़ा न होती।

(६)

नादिरशाह पहाड़ों और नदियों को लाँघता हुआ ईरान को चला जा रहा था। ७० ऊँटों और इतनी ही बैल-गाड़ियों की कतार देखकर उसका हृदय बाँसों उछल रहा था। वह बार-बार खुदा को धन्यवाद देता था, जिसकी असीम कृपा ने आज उसकी कीर्ति को उज्ज्वल बनाया था। अब वह केवल ईरान ही का बादशाह नहीं, हिन्दुस्तान जैसे विस्तृत प्रदेश का भी स्वामी था। पर सबसे ज्यादा खुशी उसे मुग़ल-आजम हीरा पाने की थी, जिसे बार-बार देख कर भी उसकी आँखें तृप्त न होती थीं। सोचता था, जिस समय मैं दरबार में यह रत्न धारण करके आऊँगा, सबकी आँखें झपक जायँगी, लोग आश्चर्य से चकित रह जायँगे।

उसकी सेना अन्न-जल के लिए कठिन कष्ट भोग रही थी।

सरहदों की विद्रोही सेनाएँ पीछे से उसको दिक कर रही थीं। नित्य दस-बीस आदमी मर जाते या मारे जाते थे पर नादिरशाह को ठहरने की फ़ुरसत न थी। वह भागाभाग चला जा रहा था।

ईरान की स्थिति बड़ी भयंकर थी। शाहज़ादा खुद विद्रोह शान्त करने के लिए गया हुआ था; पर विद्रोह दिनों-दिन उग्र रूप धारण करता जाता था। शाही सेना कई युद्धों में परास्त हो चुकी थी। हर घड़ी यही भय होता था कि कहीं वह स्वयं शत्रुओं के बीच घिर न जाय।

पर वाह रे प्रताप! शत्रुओं ने ज्योंही सुना कि नादिरशाह ईरान आ पहुँचा, त्योंही उनके हौसले पस्त हो गये। उसका सिंह-नाद सुनते ही उनके हाथ-पाँव फूल गये। इधर नादिरशाह ने तेह-रान में प्रवेश किया, उधर विद्रोहियों ने शाहज़ादे से सुलह की प्रार्थना की—शरण में आ गये। नादिरशाह ने यह शुभ-समाचार सुना, तो उसे निश्चय हो गया कि सब उसी हीरे की करामात है। यह उसी का चमत्कार है, जिसने शत्रुओं का सिर झुका दिया, हारी हुई बाजी जिता दी।

शाहज़ादा विजयी होकर लौटा, तो प्रजा ने बड़े समारोह से उसका स्वागत और अभिवादन किया। सारा तेहरान दीपावली की ज्योति से जगमगा उठा। मङ्गलगान की ध्वनि से सब गली और कूँचे गूँज उठे।

दरबार सजाया गया। शायरों ने कसीदे सुनाये। नादिर-

शाह ने गर्व से उठ कर शाहजादे के ताज को मुग़ल-आज़म हीरे से अलंकृत कर दिया। चारों ओर 'मरहबा! मरहबा!' की आवाजें बुलन्द हुईं। शाहजादे के मुख की कान्ति हीरे के प्रकाश से दूनी दमक उठी। पितृस्नेह से हृदय पुलकित हो उठा। नादिर—वह नादिर, जिसने दिल्ली में ख़ून की नदी बहाई थी—पुत्र-प्रेम से फूला न समाता था। उसकी आँखों से गर्व और हार्दिक उल्लास के आँसू बह रहे थे।

(७)

सहसा बन्दूक़ की आवाज आई—धायँ! धायँ! दरबार हिल उठा। लोगों के कलेजे दहल उठे। हाय! वज्रपात हो गया! हाय रे दुर्भाग्य! बन्दूक़ की आवाजें कानों में गूँज ही रही थीं कि शाहजादा कटे हुए पेड़ की तरह भूमि पर गिर पड़ा; साथ ही वह रत्न-जटित मुकुट भी नादिरशाह के पैरों के पास आ गिरा।

नादिरशाह ने उन्मत्त की भाँति हाथ उठा कर कहा—कातिलों को पकड़ो! साथ ही शोक से विह्वल होकर वह शाहजादे के प्राणहीन शरीर पर गिर पड़ा। जीवन की सारी अभिलाषाओं का अन्त हो गया।

लोग कातिलों की तरफ दौड़े। फिर धायँ-धायँ की आवाज आई, और दोनों कातिल गिर पड़े। उन्होंने आत्म-हत्या कर ली। वे दोनों विद्रोही-पक्ष के नेता थे।

हाय रे मनुष्य के मनोरथ, तेरी भित्ति कितनी अस्थिर है! बालू पर की दीवार तो वर्षा में गिरती है, पर तेरी दीवार बिना

पानी-बूँद के ढा जाती है। आँधी में दीपक का कुछ भरोसा किया जा सकता है, पर तेरा नहीं। तेरी अस्थिरता के आगे बालकों का घरौंदा अचल पर्वत है और वेश्या का प्रेम सती की प्रतिज्ञा की भाँति अटल।

नादिरशाह को लोगों ने लाश पर से उठाया। उसका करुण-क्रन्दन हृदयों को हिलाये देता था। सभी की आँखों से आँसू बह रहे थे। होनहार कितना प्रबल, कितना निष्ठुर, कितना निर्दय, और कितना निर्मम है!

नादिरशाह ने हीरे को जमीन से उठा लिया। एक बार उसे विषादपूर्ण नेत्रों से देखा। फिर मुकुट को शाहजादे के सिर पर रख दिया और वजीर से कहा—यह हीरा इसी लाश के साथ दफन होगा।

रात का समय था। तेहरान में मातम छाया हुआ था। कहीं दीपक या अग्नि का प्रकाश न था। न किसी ने दिया जलाया और न भोजन बनाया। अफीमचियों की चिलमें भी आज ठण्डी हो रही थीं। मगर कब्रिस्तान में मशालें रोशन थीं—शाहजादे की अन्तिम क्रिया हो रही थी।

जब फातिहा खतम हुआ, नादिरशाह ने अपने हाथों से मुकुट को लाश के साथ कब्र में रख दिया। राज और सङ्गतराश हाजिर थे। उसी वक्त कब्र पर ईंट-पत्थर और चूने का मजार बनने लगा।

नादिर एक महीने तक एक क्षण के लिए भी वहाँ से न हटा।

वहीं सोता था, वहीं राज्य का काम करता था। उसके दिल में यह बैठ गई थी कि मेरा अहित इसी हीरे के कारण हुआ। यही मेरे सर्वनाश और अचानक वज्रपात का कारण है।

—प्रेमचन्द

दाँत

—❀—

इस दो अक्षर के शब्द, तथा इन थोड़ी सी छोटी-छोटी हड्डियों में भी उस चतुर क़ारीगर ने वह कौशल दिखलाया है कि किसके मुँह में दाँत हैं, जो पूरा-पूरा वर्णन कर सके। मुख की सारी शोभा और यावत् भोज्य पदार्थों का स्वादु इन्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक (जुल्फ), भ्रू (भौं) तथा बरुणी आदि की छवि लिखने में बहुत-बहुत रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूछिये तो इन्हीं की शोभा से सब की शोभा है। जब दाँतों के बिना पुपला-सा मुँह निकल आता है, और चिबुक (ठोड़ी) एवं नासिका एक में मिल जाती हैं, उस समय सारी सुघराई मिट्टी में मिल जाती है। नयन-बाण की तीक्ष्णता, भ्रू-चाप की खिंचावट, और अलक-पन्नगी का विष कुछ भी नहीं रहता।

कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है, वह बहुत ठीक है, वरंच ये अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं। यह वह अङ्ग है, जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्यशास्त्र के नवों रस का आधार है। खाने का मजा इन्हीं से

है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिये, सिवाय सतुआ चाटने के और रोटी को दूध में तथा दाल में भिगो के गले के नीचे उतार देने के दुनिया-भर की चीजों के लिए तरस ही के रह जाता होगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शन-मात्र हमसे सुन लीजिये।

शृङ्गार का तो कहना ही क्या है! ऐसा कवि शायद कोई ही हो जिसने सुन्दरियों की दन्तावली के वर्णन में अपनी कलम को क़ारीगरी न दिखाई हो। आहा हा! मिस्सी तथा पान-रङ्ग रँगे अथवा यों ही चमकदार चटकीले दाँत जिस समय बातें करने तथा हँसने में दृष्टि आते हैं, उस समय रसिकों के नयन और मन इतने प्रमुदित हो जाते हैं कि जिनका वर्णन गूँगे की मिठाई है। हास्य-रस का तो पूर्ण रूप ही नहीं जमता, जब तक हँसते-हँसते दाँत न निकल पड़ें। करुण और रौद्र-रस में दुःख तथा क्रोध के मारे दाँत अपने होंठ चबाने के काम आते हैं, एवं अपनी दीनता दिखा के दूसरों को करुणा उपजाने में दांत दिखाये जाते हैं। रिस में भी दाँत पीसे जाते हैं। सब प्रकार के वीर रस में भी सावधानी से शत्रु की सैन्य अथवा दुःखियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दाँत लगा रहता है। भयानक रस के लिए सिंह, व्याघ्रादि के दाँतों का ध्यान कर लीजिए, पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागोगे। बीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी जैनियों के जैनी महाराज के दाँत देख लीजिए, जिनकी छोटी सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चपक जाता

है। अद्भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख-सुन के दाँत बाय, मुँह फैलाय के हक्का-बक्का रह जाते हैं। शान्त रस के उत्पादनार्थ श्रीशङ्कराचार्य स्वामी का यह पद महामन्त्र है—

> अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशन विहीनं जातं तुण्डं।
> कर-धृत-कम्पित-शोभित-दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डं।
> भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते।

सच है, जब किसी काम के न रहे तब पूछे कौन ?

> "दाँत खियाने खुर घिसे, पीठ बोझ नहिं लेइ !"

जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुए, मछली, स्थल के कौआ, कुत्ता आदि दाँत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत् चित्त से भगवान् का न भजन किया तो क्या किया ? आपकी हड्डियाँ हाथी के दाँत तो हुई नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आवेंगी। जीते-जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है। देखिए, आपके दाँत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जब तक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दन्तावली) और अपने काम में दृढ़ हैं, तभी तक हमारी प्रतिष्ठा है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कवि हमारी प्रशंसा करते हैं, बड़े-बड़े सुन्दर मुखारविन्दों पर हमारी मोहर-छाप रहती है। पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित और फेंकने योग्य हड्डी हो जाते हैं—

> "मुख में मानिक सम दशन, बाहर निकसत हाड़।"

हम जानते हैं कि नित्य यह देख के भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख्य सजातीय हिन्दू-मुसलमानों का साथ तन-मन-धन और प्रानपन से क्यों नहीं देते? याद रखिये—

'स्थान-भ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ता केशा नखा नराः।'

हाँ, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिन्दुस्तान छोड़ के विलायत जाना स्थान-भ्रष्टता है, तो यह आपकी भूल है। हँसने के समय मुँह से दाँतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता, वरञ्च एक प्रकार की शोभा होती है। ऐसे ही आप स्वदेश-चिन्ता के लिए कुछ काल देशान्तर में रह आयें तो आप की बड़ाई है। पर हाँ, यदि वहाँ जाके यहाँ की ममता ही छोड़ दीजिए तो आपका जीवन उन दाँतों के समान है, जो होंठ या गाल कट जाने से अथवा किसी कारण विशेष से बाहर रह जाते हैं, और सारी शोभा खोके भेड़िये के-से दाँत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होंठ दाँतों का परदा है। जिसके परदा न रहा, अर्थात् स्वजातित्व की ग़ैरतदारी न रही, उसकी निर्लज्ज जिन्दगी व्यर्थ है। कभी आपको दाढ़ की पीड़ा हुई होगी तो अवश्य यह जी चाहा होगा कि इसे उखाड़ डालें तो अच्छा है। ऐसे ही हम उन स्वार्थ के अन्धों के हक में मानते हैं, जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे हो देश-भाई, पर सदा हमारे देश-जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं। परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे। उनके होने का हमें कौन सुख? हम तो उनकी जै-जैकार मनावेंगे, जो अपने देशवासियों से दाँत-काटी रोटी का

बर्ताव, सच्ची गहरी प्रीति रखते हैं। परमात्मा करे हर हिन्दू-मुसलमान का देश-हित के लिए चाव के साथ दाँतों पसीना आता रहे। हमसे बहुत-कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—

"कायर कपूत कहाय, दाँत दिखाय भारत तम हरौ।"

कोई हमारे लेख देख दाँतों तले उङ्गली दबा के सूझ-बूझ की तारीफ करे; अथवा दाँत बाय के रह जाय, या अरसिकता-वश यह कह दे कि कहाँ की दाँताकिलकिल लगाई है, तो इन बातों की हमें परवा नहीं है। हमारा दाँत जिस ओर लगा है, वह लगा रहेगा; औरों की दन्तकटाकट से हमको क्या?

यदि दाँतों के सम्बन्ध का वर्णन किया चाहें तो बड़े-बड़े ग्रन्थ रँग डालें, और पूरा न पड़े। आदिदेव श्रीएकदन्त गणेशजी को प्रणाम करके श्रीपुष्पदन्ताचार्य ने महिम्न में जिनकी स्तुति की है, उन शिवजी की महिमा, दन्तवक्त्र, शिशुपालादि के संहारक श्रीकृष्ण की लीला ही गा चलें, तो कोटि जन्म पार न पावें। नाली में गिरी हुई कौड़ी को दाँत से उठाने वाले मक्खीचूसों की हिजो किया चाहें तो भी लिखते-लिखते थक जायँ। हाथी-दाँत से क्या-क्या वस्तुएँ बन सकती हैं? कलों के पहियों में कितने दाँत होते हैं और क्या-क्या काम करते हैं? गणित में कौड़ी-कौड़ी से एक-एक दाँत तक का हिसाब कैसे लग जाता है? वैद्यक और धर्मशास्त्र में दन्त-धावन की क्या-क्या विधि है, क्या फल है, क्या निषेध है, क्या हानि है? पद्धतिकारों ने

'दीर्घ-दन्ताः कचिन्मूर्खाः' आदि क्यों लिखा ? किस-किस जानवर के दाँत किस-किस प्रयोजन से किस-किस रूप-गुण से विशिष्ट बनाये गये हैं ? मनुष्यों के दाँत उजले, पीले, नीले, छोटे मोटे, लम्बे, चौड़े, घने, खुड़हे, कै रीति के होते हैं इत्यादि अनेक बातें हैं, जिनका बिचार करने में बड़ा विस्तार चाहिए। वरञ्च यह भी कहना ठीक है कि ये बड़ी-बड़ी विद्याओं के बड़े-बड़े विषय लोहे के चने हैं, हर किसी के दाँतों फूटने के नहीं। तिस पर भी अकेला आदमी क्या-क्या लिखे ?

अतः हम इस दन्त-कथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं, अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तीस दाँतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दाँतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों, तथा यह भी ध्यान रक्खें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास-योग्य नहीं हैं। हाथी के दाँत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।

—प्रतापनारायण मिश्र

सत्य हरिश्चन्द्र

स्थान—काशी के घाट किनारे की सड़क।

[महाराज हरिश्चन्द्र घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं।]

हरिश्चन्द्र—देखो काशी भी पहुँच गये। अहा ! धन्य है काशी ! भगवति वाराणसी ! तुम्हें अनेक प्रणाम है। अहा ! काशी की कैसी अनुपम शोभा है—

चारहु आश्रम वर्न बसैं मनिकञ्चन-धाम अकाश-बिभासिका।
सोभा नहीं कही जाय कछू विधि नै रची मानो पुरीन की नासिका॥
आपु बसै गिरिधारन जू तट-देवनदी बर-बारि-बिलासिका।
पुन्य-प्रकासिका पाप-बिनासिका हीय-हुलासिका सोहति कासिका॥

देखो जैसा ईश्वर ने यह सुन्दर अँगूठी के नगीने सा नगर बनाया है, वैसी ही नदी भी इसके वास्ते दी है। धन्य गंगे !

जम की सब त्रास बिनास करी मुख ते निज नाम उचारन में।
सब पाप प्रतापहिं दूर दर्‌यो तुम आपन आप निहारन में॥
अहो गङ्ग अनङ्ग के शत्रु करे बहु नेकु जलै मुख डारन में।
गिरिधारनजू कितने बिरचे गिरिधारन धारन धारन में॥

कुछ महात्म्य ही पर नहीं; गङ्गा जी का जल भी ऐसा ही उत्तम और मनोहर है। अहा !

(कुछ सोच कर) पर हा ! जो अपना जी दुखी होता है तो संसार सूना जान पड़ता है—

अशनं वसनं वासो येषां चैवाविधानतः।
मगधेन समा काशी गंगाप्यंगारवाहिनी ॥

विश्वामित्र को पृथ्वी दान करके जितना चित्त प्रसन्न नहीं हुआ, उतना अब बिना दक्षिणा दिये दुखी होता है। हा! कैसे कष्ट की बात है, राज-पाट, धन-धाम, सब छूटा, अब दक्षिणा कहाँ से देंगे। क्या करें! हम सत्य कभी छोड़ेंगे ही नहीं और मुनि ऐसे क्रोधी हैं कि बिना दक्षिणा मिले शाप देने को तैयार होंगे। और जो यह शाप न भी देंगे तो क्या? हम ब्राह्मण का ऋण चुकाये बिना शरीर भी तो नहीं त्याग सकते। क्या करें? कुबेर को जीत कर धन लावें? पर कोई शस्त्र भी तो नहीं है। तो क्या किसी से माँग कर दें? पर क्षत्रिय का तो धर्म नहीं कि किसी के आगे हाथ पसारे। फिर ऋण काढ़ें? पर देंगे कहाँ से? हाँ! देखो काशी में आकर लोग संसार के बन्धन से छूटते हैं, पर हमको यहाँ भी हाय-हाय मची है। हा! पृथ्वी तू फट क्यों नहीं जाती कि अपना कलङ्कित मुँह किसी को न दिखलाऊँ, (आतङ्क से) पर यह क्या? सूर्य्यवंश में उत्पन्न होकर हमारे ये कर्म हैं कि ब्राह्मण का ऋण दिये बिना पृथ्वी में समा जाना सोचें। (कुछ सोच कर) हमारी तो इस समय कुछ बुद्धि ही नहीं काम करती, क्या करें? हमें तो संसार सूना देख पड़ता है। (चिन्ता करके एक साथ हर्ष से) वाह अभी तो स्त्री, पुत्र और हम तीन-तीन मनुष्य तैयार हैं। क्या हम लोगों के बिकने से सहस्र स्वर्ण-मुद्रा भी न मिलेंगी? तब फिर किस बात का इतना सोच?

न जाने बुद्धि इतनी देर तक कहाँ सोई थी। हमने तो पहले ही विश्वामित्र से कहा था—

बेचि देह दारा सुवन, होइ दास हू मन्द।
रखिहै निज बच-सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द॥

(नेपथ्य में)

तो क्यों नहीं जल्दी अपने को बेचता ? क्या हमें और काम नहीं है कि तेरे पीछे-पीछे दक्षिणा के वास्ते लगे फिरें ?

हरिश्चन्द्र—अरे मुनि तो आ पहुँचे। क्या हुआ, आज उनसे एक दो दिन की अवधि और लेंगे।

(विश्वामित्र आते हैं)

विश्वामित्र—(आप ही आप) हमारी विद्या सिद्ध हुई भी इसी दुष्ट के कारण सब बहक गई। कुछ इन्द्र के कहने ही पर नहीं, हमारा इस पर स्वतः भी क्रोध है। पर क्या करें, इसके सत्य, धैर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राज्यभ्रष्ट हो चुका, पर जब तक इसे सत्यभ्रष्ट न कर लूँगा, तब तक मेरा सन्तोष न होगा। (आगे देख कर) अरे यही दुरात्मा (कुछ रुक कर) वा महात्मा हरिश्चन्द्र है। (प्रकट) क्यों रे, आज महीने में कै दिन बाकी हैं ? बोल, कब दक्षिणा देगा ?

हरिश्चन्द्र—(घबड़ा कर) अहा महात्मा कौशिक ! भगवन्, प्रणाम करता हूँ।

(दण्डवत करता है)

विश्वामित्र—हुई प्रणाम, बोल तैंने दक्षिणा देने का क्या उपाय किया ? आज महीना पूरा हुआ, अब मैं क्षण भर भी न मानूँगा। दे अभी, नहीं तो—(शाप के वास्ते कमण्डल से जल हाथ में लेते हैं।)

हरिश्चन्द्र—(पैरों पर गिर कर) भगवन् ! क्षमा कीजिए। यदि आज सूर्य्यास्त के पहिले मैं न दूँ तो जो चाहे कीजियेगा। मैं अभी अपने को बेच कर मुद्रा ले आता हूँ।

विश्वामित्र—(आप ही आप) वाहरे महानुभावता ! (प्रगट) अच्छा आज साँझ तक और सही। साँझ को न देगा तो मैं शाप ही न दूँगा, वरञ्च त्रैलोक्य में आज विदित कर दूँगा कि हरिश्चन्द्र सत्यभ्रष्ट हुआ। (जाते हैं)

हरिश्चन्द्र—भला मुनि से किसी तरह प्राण बचे। अब चलें अपना शरीर बेच कर दक्षिणा देने का उपाय सोचें। हा ! ऋण भी कैसी बुरी वस्तु है। इस लोक में वही मनुष्य कृतार्थ है जिसने ऋण चुका देने को कभी क्रोधी और क्रूर लहनदार की लाल-लाल आँखें नहीं देखी हैं। (आगे चल कर) अरे क्या बाज़ार में आ गये ! अच्छा (सिर पर तृण रखकर) अरे सुनो भाई सेठ, साहूकार, महाजन, दूकानदारो, हम किसी कारण से अपने को हज़ार मोहर पर बेचते हैं; किसी को लेना हो तो लो। (इसी तरह कहता हुआ इधर-उधर फिरता है) देखो कोई दिन वह था कि इसी मनुष्य-विक्रय को अनुचित जान कर हम

दूसरे को दण्ड देते थे, पर आज वही कर्म हम आप करते हैं, दैव बली है। (अरे सुनो भाई, इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है। ऊपर देख कर) क्या कहा? "क्यों तुम ऐसा दुष्कर कर्म करते हो?" आर्य्य, यह बात मत पूछो, यह सब कर्म की गति है (ऊपर देख कर) क्या कहा? "तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो, और किस तरह रहोगे?" इसका क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वह करेंगे; समझते सब कुछ हैं, पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता, और जैसे स्वामी रक्खेगा वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया तब इसका क्या बिचार है। (ऊपर देख कर) क्या कहा "कुछ दाम कम करो।" आर्य, हम लोग तो क्षत्रिय हैं; हम दो बात कहाँ से जानें। जो कुछ ठीक था, कह दिया।

(नेपथ्य में से)

आर्यपुत्र! ऐसे समय में हमको छोड़ जाते हो? तुम दास होगे तो मैं स्वाधीन रह कर क्या करूँगी? स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी कहते हैं; इससे पहिले बायाँ अङ्ग बेच लो तब दाहिना अङ्ग बेचो।

हरिश्चन्द्र—(सुन कर बड़े शोक से) हा! रानी की यह दशा इन आँखों से कैसे देखी जायगी?

(सड़क पर शैव्या और बालक फिरते हुए दिखाई पड़ते हैं)

शैव्या—कोई महात्मा कृपा करके हमको मोल ले तो बड़ा उपकार हो।

बालक—हमको बी कोई मोल ले तो बला उपकाल हो।

शैव्या—(आँखों में आँसू भर कर) पुत्र ! चन्द्रकुलभूषण महाराज वीरसेन का नाती और सूर्यकुल की शोभा महाराज हरिश्चन्द्र का पुत्र होकर तू क्यों ऐसे कातर बचन कहता है। मैं अभी जीती हूँ !

(रोती है)

बालक—(माँ का आँचल पकड़ के) माँ तुमको कोई मोल लेगा तो अमको भी मोल लेगा। आँ आँ माँ लोती काएको औ (कुछ रोना सा मुँह बना कर शैव्या का आँचल पकड़ के झूलने लगता है)।

शैव्या—(आँसू पोंछ कर) मेरे भाग्य से पूछ।

हरिश्चन्द्र— अहह ! भाग्य ! यह भी तुम्हें देखना था ! हा ! अयोध्या की प्रजा रोती रह गई। हम उनको कुछ धीरज भी न दे आये। उनकी अब कौन गति होगी ? हा ! यह नहीं कि राज छूटने पर छुटकारा हो। अब यह देखना पड़ा। हृदय ! तुम इस चक्रवर्ती की सेवा योग्य बालक और स्त्री को बिकता देख कर टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ?

(बारम्बार लम्बी सासें लेकर आँसू बहाता है)

शैव्या—(कोई महात्मा इत्यादि कहती हुई ऊपर देख कर) क्या कहा ? "क्या-क्या करोगी ?" पर-पुरुष से सम्भाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़ कर और सब सेवा करूँगी। (ऊपर देख कर) क्या कहा ? "इतने मोल पर कौन लेगा ?" आर्य ! कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे।

(उपाध्याय और बटुक आते हैं)

उपाध्याय—क्यों रे कौण्डिन्य ! सच ही दासी बिकती है ?

बटुक—हाँ गुरु जी, क्या मैं झूठ कहूँगा। आप ही देख लीजिए।

उपाध्याय—तो चल, आगे-आगे भीड़ हटाता चल। देख धारा-प्रवाह की भाँति कैसे सब कामकाजी लोग इधर-उधर से फिर रहे हैं, भीड़ के मारे पैर धरने को जगह नहीं है और मारे कोलाहल के कान नहीं दिया जाता।

बटुक—(आगे आगे चलता हुआ) हटो भाई हटो ! (कुछ आगे बढ़ कर) गुरु जी, यह जहाँ भीड़ लगी है वहीं होगी।

उपाध्याय—(शैव्या को देख कर) अरे यही दासी बिकती है।

शैव्या—(अरे कोई हमको मोल ले इत्यादि कहती और रोती है।)

बालक—(माता की भाँति तोतली बोली से कहता है।)

उपाध्याय—पुत्री, कहो ! तुम कौन-कौन सेवा करोगी ?

शैव्या—पर-पुरुष से सम्भाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़ कर और जो-जो कहिएगा, सब सेवा करूँगी।

उपाध्याय—वाह ! ठीक है। अच्छा लो यह सुवर्ण। हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र की अग्नि की सेवा से घर के काम-काज नहीं कर सकती, सो तुम सम्हालना।

शैव्या—(हाथ फैला कर) महाराज, आपने बड़ा उपकार किया।

उपाध्याय—(शैव्या को भली-भाँति देख कर आप ही आप) अहा ! यह निस्सन्देह किसी बड़े कुल की है। इसका मुख सहज लज्जा से ऊँचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है। जो बोलती है धीरे-धीरे सम्हल कर बोलती है। हा ! इसकी यह गति क्यों हुई ! (प्रगट) पुत्री, तुम्हारे पति हैं न ?

शैव्या—(राजा की ओर देखती है)

हरिश्चन्द्र—(आप ही आप दुख से) अब नहीं है। पति के होते भी ऐसी स्त्री की यह दशा हो !

उपाध्याय—(राजा को देख कर आश्चर्य से) अरे यह विशाल नेत्र, प्रशस्त वक्षस्थल और संसार की रक्षा करने के योग्य लम्बी-लम्बी भुजावाला कौन मनुष्य है, और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रक्खा है ? (प्रगट) महात्मा ! तुम हमको अपने दुःख का भागी समझो और कृपापूर्वक अपना सब वृत्तान्त कहो।

हरिश्चन्द्र—भगवन्, और तो विदित करने का अवसर नहीं है, इतना ही कह सकता हूँ कि ब्राह्मण के ऋण के कारण यह दशा हुई।

उपाध्याय—तो हमसे धन लेकर आप शीघ्र ही ऋण-मुक्त हूजिए।

हरिश्चन्द्र—(दोनों कानों पर हाथ रख कर) राम राम ! यह तो ब्राह्मण की वृत्ति है। आपसे धन लेकर हमारी कौन गति होगी ?

उपाध्याय—तो पाँच-सौ मोहर पर आप दोनों में से चाहे सो हमारे सङ्ग चले।

शैव्या—(राजा से हाथ जोड़ कर) नाथ, हमारे अछत आप मत बिकिए, जिसमें हमको अपनी आँख से यह न देखना पड़े, हमारी इतनी बिनती मानिए (रोती है)।

हरिश्चन्द्र—(आँसू रोक कर) अच्छा, तुम्हीं जाओ। (आप ही आप) हा! यह वज्र हृदय हरिश्चन्द्र ही का है कि अब भी नहीं विदीर्ण होता!

शैव्या—(राजा के कपड़े में सोना बाँधती हुई) नाथ, अब तो दर्शन भी दुर्लभ होंगे। (रोती हुई उपाध्याय से) आर्य्य! आप क्षण भर क्षमा करें तो मैं आर्य्यपुत्र का भली-भाँति दर्शन कर लूँ, फिर यह मुख कहाँ और मैं कहाँ!

उपाध्याय—हाँ-हाँ, मैं जाता हूँ, कौण्डिन्य यहाँ है। तुम उसके साथ आना।

(जाता है)

शैव्या—(रोकर) नाथ, मेरे अपराधों को क्षमा करना।

हरिश्चन्द्र—(अत्यन्त घबड़ा कर) अरे, अरे विधाता तुझे यही करना था। (आप ही आप) हा! पहिले महारानी बना कर अब दैव ने इसे दासी बनाया। यह भी देखना बदा था। हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरु भगवान् सूर्य का भी मुख मलीन हो रहा है (रोता हुआ प्रगट रानी से) प्रिये! सर्वभाव से उपाध्याय को प्रसन्न रखना और सेवा करना।

शैव्या—(रोकर) नाथ जो आज्ञा।

बटुक—उपाध्याय जी गये, अब चलो जल्दी करो।

हरिश्चन्द्र—(आँखों में आँसू भरके) देवी, (फिर रुक कर अत्यन्त सोच से आप ही आप) हाय ! अब मैं देवी क्यों कहता हूँ, अब तो विधाता ने इसे दासी बनाया। (धैर्य्य से) देवी, उपाध्याय की आराधना भली प्रकार करना और उनके सब शिष्यों से भी सुहृत्-भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना, बालक का यथासम्भव पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना। विशेष हम क्या समझावें। जो-जो दैव दिखावे, उसे धीरज से देखना (आँसू बहते हैं)।

शैव्या—जो आज्ञा। (राजा के पैरों पर गिर कर रोती है)।

हरिश्चन्द्र—(धैर्यपूर्वक) प्रिये ! देर मत करो, बटुक घबड़ा रहे हैं।

शैव्या—(उठ कर रोती और राजा की ओर देखती हुई धीरे-धीरे चलती है)।

बालक—(राजा से) पिता जी, माँ कआँ जाती एँ ?

हरिश्चन्द्र—(धैर्य से आँसू रोक कर) जहाँ हमारे भाग्य ने उसे दासी बनाया है।

बालक—(बटुक से) अले माँ को मत ले जा। (माँ का आँचल पकड़ के खींचता है)

बटुक—(बालक को ढकेल कर) चल-चल, देर होती है।

बालक—(ढकेलने से गिर कर रोता हुआ उठ कर अत्यन्य क्रोध और करुणा से माता-पिता की ओर देखता है)

हरिश्चन्द्र—ब्राह्मण देवता, बालकों के अपराध से नहीं रुष्ट होना। (बालक को उठा कर धूर पोंछ के मुँह चूमता हुआ) पुत्र, मुझ चाण्डाल का मुख ऐसे क्रोध से क्यों देखता है? ब्राह्मण का क्रोध तो सभी दशा में सहना चाहिए। जाओ माता के सङ्ग, मुझ भाग्यहीन के साथ रह कर क्या करोगे? (रानी से) प्रिये! धैर्य्य धरो। अपना कुल और जाति स्मरण करो। जाओ, देर होती है।

(रानी और बालक रोते हुए बटुक के साथ जाते हैं।)

हरिश्चन्द्र—धन्य हरिश्चन्द्र! तुम्हारे सिवाय और ऐसा कठोर हृदय किसका होगा? संसार में धन और जन छोड़ कर लोग स्त्री की रक्षा करते हैं, पर तुमने उसका भी त्याग किया।

(विश्वामित्र आते हैं)

हरिश्चन्द्र—(पैर पर गिर के प्रणाम करता है)

विश्वामित्र—ला दे दक्षिणा। अब साँझ होने में कुछ देर नहीं है।

हरिश्चन्द्र—(हाथ जोड़ कर) महाराज, आधी लीजिए, आधी अभी देता हूँ। (सोना देता है)

विश्वामित्र—हम आधी दक्षिणा ले के क्या करें, दे चाहे जहाँ से सब दक्षिणा।

(नेपथ्य में)

धिक् तपोधिक् व्रतमिदं धिक् ज्ञानं धिक् बहुश्रुतम्।
नीतवानसियद्ब्रह्मन् हरिश्चन्द्रमिमां दशाम्॥

विश्वामित्र—(बड़े क्रोध से) आह हमको धिक्कार देने वाले यह कौन दुष्ट हैं ? (ऊपर देख कर) अरे विश्वेदेवा ! (क्रोध से जल हाथ में लेकर) अरे क्षत्रिय के पक्षपातियो ! तुम अभी विमान से गिरो और क्षत्रिय के कुल में तुम्हारा जन्म हो और वहाँ भी लड़कपन ही में ब्राह्मण के हाथ मारे जाओ। (जल छोड़ते हैं)

(नेपथ्य में हाहाकार के साथ बड़ा शब्द होता है)

(सुन कर और ऊपर देख कर आनन्द से) हहहह ! अच्छा हुआ ! यह देखो किरीट-कुण्डल बिना मेरे क्रोध से विमान से छूट कर विश्वेदेवा उलटे ही होकर नीचे गिरते हैं। और हमको धिक्कार दें।

हरिश्चन्द्र—(ऊपर देख कर भय से) वाह रे तप का प्रभाव। (आप ही आप) तब तो हरिश्चन्द्र को अब तक शाप नहीं दिया है, यही बड़ा अनुग्रह है। (प्रगट) भगवन्, यह स्त्री बेच कर आधा धन पाया है सो लें, आधा हम अपने को बेच अभी देते हैं।

(नेपथ्य में) अरे अब तो नहीं सही जाती।

विश्वामित्र—हम आधा न लेंगे, चाहे जहाँ से अभी सब दे।

हरिश्चन्द्र—(अरे सुनो भाई सेठ साहूकार इत्यादि पुकारता हुआ घूमता है)।

(चाण्डाल के वेष में धर्म और सत्य आते हैं)

धर्मराज—(आप ही आप)

हम प्रतच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत ।
जल थल नभ थिर मों प्रभाव मरजाद न टालत ॥
हम ही नर के मीत सदा साँचे हितकारी ।
इक हमहीं सँग जात तजत जब पितु सुत नारी ॥
सो हम नित थित सत्य में, जाके बल सब जग जियो ।
सोइ सत्य परिच्छन नृपति को, आजु भेष हम यह लियो ॥

(आश्चर्य से आप ही आप) सचमुच इस राजर्षि के समान दूसरा आज त्रिभुवन में नहीं है। (आगे बढ़कर प्रत्यक्ष) अरे हरजनवाँ ! मोहर का सन्दूक़ ले आवा है न ?

सत्य—चौधरी मोहर लेके का करबो ?

धर्म—तोहसें का काम पूछै से ?

(दोनों आगे बढ़ते हुए फिरते हैं)

हरिश्चन्द्र—(अरे सुनो भाई सेठ-साहूकार इत्यादि दो-तीन बेर पुकार के इधर-उधर घूम कर) हाय ! कोई नहीं बोलता। और कुलगुरु सूर्य भी आज हमसे शीघ्र ही अस्ताचल जाया चाहते हैं। (घबराहट दिखाता है)

धर्म—(आप ही आप) हाय हाय ! इस समय इस महात्मा को बड़ा ही कष्ट है। तो अब चलें आगे। (आगे बढ़ कर) अरे हम तुमको मोल लेंगे। लेव, यह पचास सै मोहर लेव।

हरिश्चन्द्र—(आनन्द से आगे बढ़ कर) वाह कृपानिधान, बड़े अवसर पर आये। लाइए। (उनको पहिचान कर) आप मोल लेंगे ?

धर्म—हाँ, हम मोल लेंगे। (सोना देना चाहता है)

हरिश्चन्द्र—आप कौन हैं ?

धर्म—

हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनों पार॥
सब मसान पर हमरा राज। कफ़न माँगने का है काज॥
फूलमती देवी के दास। पूजें सती मसान निवास॥
धनतेरस औ रात दिवाली। बल चढ़ाय के पूजें काली॥
सो हम तुमको लेंगे मोल। देंगे मुहर गाँठ से खोल॥

(मत्त की भाँति चेष्टा करता है)

हरिश्चन्द्र—(बड़े दुःख से) अहह ! बड़ा दारुण व्यसन उपस्थित हुआ है। (विश्वामित्र से) भगवन् ! मैं पैर पड़ता हूँ, मैं जन्म भर आपका दास होकर रहूँगा, मुझे चाण्डाल होने से बचाइए।

विश्वामित्र—छिः मूर्ख, भला हम दास लेके क्या करेंगे। 'स्वयं दासास्तपस्विनः।'

हरिश्चन्द्र—(हाथ जोड़ कर) जो आज्ञा कीजिएगा हम सब करेंगे।

विश्वामित्र—सब करेगा न ? (ऊपर हाथ उठा कर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूँगा।

हरिश्चन्द्र—हाँ-हाँ, जो आप आज्ञा कीजिएगा सब करूँगा।

विश्वामित्र—तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेच कर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे।

हरिश्चन्द्र—जो आज्ञा (आप ही आप) अब कौन सोच है (प्रगट धर्म से) तो हम एक नियम पर बिकेंगे!

धर्म—वह कौन ?

हरिश्चन्द्र—भीख असन कम्मल बसन, रखिहौं दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा देइहैं, करिहौं सब ह्वै दास॥

धर्म—ठीक है, लेव सोना (दूर से राजा के आँचले में मोहर देता है)

हरिश्चन्द्र—(लेकर हर्ष से आप ही आप)

ऋण छूट्यो, पूर्यो बचन, द्विजहु न दीनो शाप।
सत्य पालि चण्डालहू, होइ आजु मोहि दाप॥

(प्रगट विश्वामित्र से) भगवन्! लीजिए मोहर।

विश्वामित्र—(मुँह चिढ़ा कर) सचमुच देता है?

हरिश्चन्द्र—हाँ-हाँ, यह लीजिए।

(मोहर देते हैं)

विश्वामित्र—(लेकर) स्वस्ति। (आप ही आप) बस अब चलो, बहुत परीक्षा हो चुकी। (जाना चाहते हैं)

हरिश्चन्द्र—(हाथ जोड़ कर) भगवन्! दक्षिणा देने में देर होने का अपराध क्षमा हुआ न?

विश्वामित्र—हाँ क्षमा हुआ, अब हम जाते हैं।

हरिश्चन्द्र—भगवन्! प्रणाम करता हूँ।

(विश्वामित्र आशीर्वाद देकर जाते हैं।)

हरिश्चन्द्र—अब चौधरी जी (लज्जा से रुक कर) स्वामी की जो आज्ञा हो वह करें।

धर्म (मत्त की भाँति नाचता हुआ)

जाओ अभी दक्खिनी मसान। लेव वहाँ कफ्फन का दान॥
जो कर तुमको नहीं चुकावे। सो किरिया करने नहिं पावे॥
चलो घाट पर करो निवास। भये आज से हमरे दास॥

हरिश्चन्द्र—जो आज्ञा।

(जवनिका गिरती है)

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

साहित्यिक चन्द्रमा

चन्द्रमा पृथ्वी से कितनी दूर पर है, उसका क्षेत्रफल क्या है, किससे प्रकाश पाता है आदि बातें जाननी हैं तो ज्योतिर्विज्ञानियों से पूछिए। वे सर्वज्ञ हैं। आकाश-पाताल एक कर रहे हैं! इतना ही नहीं, उनके हाथ में ईश्वर की अस्ति तक का भाग्य-निर्णय है।

हमें इन प्रश्नों से कुछ मतलब नहीं। आग जाने, लुहार जाने। हमतो उस चन्द्र की चर्चा चलाने आये हैं, जो साहित्य-संसार का शृङ्गार, संयोगियों का सुधा-सार, वियोगियों का विषागार, उपमाओं का भण्डार एवं कल्पनाओं का आधार है। हमारे चन्द्रमा का जन्म समुद्र से हुआ है। वह कुमुद-बान्धव तथा रोहिणी-वल्लभ है। लक्ष्मी माता का सगा सहोदर होने से हम

लोग उसे 'चन्दा-मामा' भी कहते हैं। साहित्य-विज्ञान में द्विजराज, सुधाकर, मृगलाञ्छन आदि अनेक नामों से उसका उल्लेख किया गया है। वह भगवान् भूत-भावन की भालस्थली का भव्य भूषण है। विष्णु का मन ही है। चन्द्रमा न होता तो बेचारे कवि नायक-नायिका के मुख-मण्डल की तुलना किससे करते? भली-बुरी बातें कैसे सुनाते? कुमुद और चकोर की प्रीति किसके साथ जोड़ते? और तो और, यामिनी-कामिनी का पाणिग्रहण किससे कराते?

संस्कृत-साहित्य में चन्द्रमा को लक्ष्य कर कवियों ने पृष्ठ-के-पृष्ठ रँग डाले हैं। श्रीहर्ष का चन्द्रोपालम्भ अद्वितीय और अपूर्व है। कालिदास और भवभूति ने भी कहीं-कहीं इस विषय पर कलम तोड़ दी है। काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण एवं रस-गङ्गाधर प्रभृति ग्रन्थों में चन्द्र पर ऐसी-ऐसी साहित्यक सूझें मिलती हैं कि पढ़ कर हृदय मन्त्रमुग्ध-वत् हो जाता है। वास्तव में कवियों के लिये चन्द्रमा एक ऐसा आवश्यक अङ्ग हो गया है कि जिसके बिना संयोग का वियोग शृङ्गार में चमत्कार आ ही नहीं सकता। इस पर जितनी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं, उतनी कदाचित् ही किसी दूसरे विषय पर हों। संस्कृत के एक कवि ने उत्प्रेक्षाओं की क्या ही अनोखी और चोखी माला गूंथी है—

लक्ष्मी-क्रीडा-तडागो, रति-धवलगृहं, दर्पणो दिग्वधूनां,
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिण्डीभूतंहरस्य स्मितममरसरित्पुण्डरीको मृगाङ्कः,
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारको गोकुलस्य ॥

जान पड़ता है, यह चन्द्रमा भगवती लक्ष्मी का केलि-सरोवर है, अथवा त्रिलोक-सुन्दरी रति का धवल धाम है; या दिशा-रूपी ललनाओं के मुख देखने का स्वच्छ दर्पण, या निशा-रूपी श्यामा-लता का श्वेत पुष्प तो नहीं है ? सम्भव है, यह कामदेव का स्वेत छत्र या भगवान् भूतनाथ का पिण्डीभूत अट्टहास्य हो। कहीं आकाश-गंगा में विकसित कमल का फूल न हो ! हो न हो, यह कौमुदी-रूपी सुधा का सरोवर है। हमें तो यह निश्चय होता है कि तारा-रूपी गौओं के बीच में यह एक सुन्दर सफ़ेद बैल है।

खूब ! एक से एक बढ़ कर सूझ से काम लिया गया है। आकाश-पाताल को एक कर दिया है। आदि-कवि महर्षि बाल्मीकि ने, चन्द्रमा पर, क्या ही सुन्दर कल्पनाओं से काम लिया है—

हंसोयथा राजत-पञ्जरस्थ: सिंहो यथा मन्दर-कन्दरस्थ: ।
वीरो यथा गर्वित-कुञ्जरस्थश्चन्द्रोऽपिबभ्राज तथाम्बरस्थ: ॥

पिंजड़े के भीतर जैसे हंस, मन्दराचल की गुफा में जैसे सिंह तथा मतवाले हाथो पर जैसे शूरवीर शोभायमान होता है, उसी प्रकार आकाश के बोच में चन्द्रमा विराजमान हो रहा है।

'सिंहो यथा मन्दर कन्दरस्थ' की छाया पर गुसाईं तुलसीदास ने 'पूरब दिसि गिरि-गुहा-निवासी' लिख कर 'यद्रामायणे निगदितं' यह अपना प्रवचन सिद्ध किया है। कवि-कल्पना के आचार्य केशवदास ने भी चन्द्रमा का विलक्षण वर्णन किया है:—

फूलन की शुभ गेंद नई। सूँघि सची जनु डारि दई॥
दर्पन सो ससि श्रीरति को। आसन काम-महीपति को॥
मोतिन को श्रुति-भूषन भनो। भूलि गई रवि की तिय मनो॥
अङ्गद को पितु सो सुनिये। सोहत तारहिं सङ्ग लिये॥
भूप मनोभव छत्र धरेउ। लोक वियोगिन को डरेउ॥
देवनदी-जल राम कह्यो। मानहुं फूलि सरोज रह्यो॥
फेन किधौं नव-सिन्धु लसै। देवनदी-जल हंस बसै॥

चारु-चन्द्रिका-सिन्धु, सीतल स्वच्छ सतेज।
मनो सेषमय सोभिजै, हरिणाधिष्ठित सेज॥

इन सब में एक कल्पना बड़ी ही अनूठी है। दिन भर के परिश्रान्त सूर्य सन्ध्या-समय अपनी उत्कण्ठिता रमणी के यहाँ जा रहे हैं। पति का आगमन सुन पतिव्रता कामिनी पति से मिलने को तुरन्त दौड़ आई। शृङ्गार तक ठीक-ठीक नहीं कर पाया था। उतावली में उसका एक कर्णफूल छूट गया। यह चन्द्रमा वही कर्णफूल है।

कभी चन्द्रमा मन्दाकिनी का धवल कमल कहा जाता है, तो कभी आकाश-रूपी समुद्र का फेन। कहीं वह रति का दर्पण बन जाता है, तो कहीं कामदेव का राज-छत्र। कल्पनाओं का कुछ ठिकाना है! सुन्दर मुख के लिये तो सिवा चन्द्र के दूसरी उपमा ही नहीं। इस सब मान प्रतिष्ठा से चन्द्रमा को बड़ा घमण्ड होगा। मन ही मन कहता होगा कि मेरे समान सुन्दर, सुशील और सम्मान-पात्र कदाचित् ही कोई हो। पर चन्द्रदेव! इस

घमण्ड में न भूले रहना। जिन कवियों ने तुम्हें सातवें अर्श पर चढ़ा रखा है, वही तुम्हें फर्श पर गिराने को तैयार हैं। कवियों का क्या भरोसा? ये साँप के बच्चे हैं। इनसे बहुत बच कर चलना चाहिए। देखो, इन लोगों ने जितनी तुम्हारी प्रशंसा नहीं की उतनी निन्दा कर डाली है। सीता जी के मुख से तुम्हारी पटतर दी जाने को थी, पर बिचार करने पर यह मालूम हुआ कि ऐसा करना महा अनुचित है। तुम तो उनके मुख के आगे कुछ भी नहीं। देखो न—

जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु बिष, दिन मलीन, सकलङ्क।
सियमुख-समता पाव किमि, चन्द्र बापुरो रङ्क।

इतना ही नहीं, तुममें और भी कई दोष हैं—

घटइ-बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई। ग्रसइ राहु निज सन्धिहि पाई॥
कोक-सोक पद, पङ्कज द्रोही। अवगुन बहुत, चन्द्रमा, तोही॥
वैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥

—तुलसी

तुम्हारे साथ उपमा देने के बिचार-मात्र से प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ेगा! तुममें सबसे बड़ा ऐब तो यह है कि तुम सदा विरही जनों को अपनी शीतल किरणों से जलाया करते हो। बड़े विरोध की बात है। कहीं शीतलता में भी दाहकता होती है? हाँ, अवश्य। न जाने, किसने तुम्हारा 'शीतकर' नाम रख दिया—

हौं ही बौरी बिरह-बस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानिकै कहत हैं, ससिहि सीतकर नाम॥

—बिहारी

एक विरहिणी नायिका कहती है—विरह-वश में बावली हो गई हूँ ; या गाँव भर बावला है। ये लोग क्या जान कर इस अङ्गार को 'शीतकर' कहते हैं ?

तू बावली नहीं है, गाँव वाले ही बावले हैं। अरी, यह चन्द्रमा ही नहीं है। मूर्ख लोग इसे चन्द्रमा या शीतकर कहते होंगे। फिर कौन है ? ग्रीष्म-ऋतु का प्रचण्ड मार्तण्ड। देखती नहीं है, अङ्गारों के समान अपनी विषम किरणों से समस्त संसार को भस्मसात् करता हुआ यह साक्षात् सूर्य निकल रहा है—

अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलं ।
मार्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः ॥

—पण्डितराज जगन्नाथ

फिर भी सन्देह है ?

विष-संयुत कर-निकर पसारी। जारत बिरहवन्त नर-नारी ॥

—तुलसी

वास्तव में, यह धधकती हुई आग का एक बड़ा भारी गोला है। नहीं, इसे जलता हुआ भाड़ कहना चाहिए। विरही जनों के भूनने के लिए ब्रह्मा ने इसे बनाया है। यह भी सन्देह होता है कि कहीं यह विषैला सफ़ेद साँप न हो। शेषनाग के वंश के सफ़ेद साँप होते ही हैं। सम्भव है, उसी वंश का यह भी हो। महाकवि गङ्ग ने भी चन्द्रमा को साँप ही साबित किया है—

सेत सरीर, हिये विष स्याम, कला फनरी मन जान जुन्हाई।
ग्रीषम-मरीचि दसों दिसि फैलति काटति जाहि बियोगिनी ताई ॥

सीस तें पूँछ लों गात गर्यो, पै डसे बिन ताहि परै न रहाई।
सेस के गोत के ऐसेहि होत हैं, चन्द नहीं ये फनिन्द हैं माई॥

मरते-मरते भी दुष्टों की दुष्टता नहीं जाती। सिर से पूँछ तक इसका सारा शरीर गल गया है, फिर भी इस साँप को काटे बिना कल नहीं पड़ती।

इसमें सन्देह नहीं कि इसकी किरणें तीक्ष्ण और विषैली हैं। पत्थर तक इन किरणों से पिघल कर मोम हो जाता है, फिर मनुष्यों का पूछना ही क्या? तिस पर, सुकुमार शरीर वालों की तो और भी मौत है!

रात्रिराज, सुकुमारशरीरः कः सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं चन्द्रकान्त इषदोपि गलन्ति॥

—मङ्खक

यह बिल्कुल सफ़ेद झूठ है कि चन्द्रमा का नाम सुधाकर है। सुधाकर होता तो भला क्यों बेचारे वियोगियों की हत्या सर पर चढ़ाता? पर, ईश्वर बड़ा मालिक है। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल देता है। इस निर्दय चन्द्रमा की भी अकल ठिकाने लगाने वाला कोई है, और वह है बीरवर राहु। ग्रहण के समय एक न चलती होगी। राहु के आगे, जनाब चाँद साहिब, आपकी सारी चालाकी चम्पत हो जाती है। उस दिन तुम्हें छटी का दूध याद आता होगा। न जाने, राहु के कराल गाल से तुम कैसे जीवित निकल आते हो! राहु तुम्हें जान-बूझ कर उगल देता है, क्योंकि तुम्हारी विष-ज्वाला उसे सहन न होती होगी। अच्छा

होता, यदि किसी-न-किसी तरह वह तुम्हें स्वाहा कर देता। पर पापियों की आयु बड़ी लम्बी होती है। तुम क्यों मरोगे? चन्द्रमा तुमने लगभग सभी पाप किये हैं। न जाने, अन्त में तुम्हारी क्या दुर्गति होगी। तुम्हारे पीछे तुम्हारे बाप समुद्र की तो पूरी दुर्दशा हो ही चुकी, अब तुम्हारी चाहे जो हो। न तुम सरीखे कुपूत होते, न बेचारे को इतनी आफतें भोगनी पड़तीं।

ऐरे मतिमन्द चन्द धिग् है अनन्द तेरो,
जो पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप तें।
तू तो दोषाकर, दूजे धरे है कलङ्क उर,
तीसरे कपालि सङ्ग देखौ है सिर छाप तें।
कहै मतिराम, हाल जाहिर जहान तेरो,
बारुनी के बासी भासी रवि के प्रताप तें।
बाँध्यो गयौ, मथ्यौ गयौ, पियो गयौ, खारो भयौ,
बापरो समुद्र तो कपूत ही के पाप तें॥

रामचन्द्रजी ने बाँधा, देवताओं और राक्षसों ने अमृत के लिए मथन किया, अगस्त्य जी ने आचमन कर डाला और खारा है ही! बेचारे समुद्र को तुम्हारे कुकर्मों का फल भोगना पड़ा।

कर्म करै कोउ और ही, और पाव फल-भोग।
अति विचित्र भगवन्त गति, को जग जानइ जोग॥

—तुलसी

हे मृगलाञ्छन! पाप छिपाये नहीं छिपता, किसी न किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पान

करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गये। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ। हाँ, मुँह बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष-कलङ्क मरने पर भी न छूटेगा। मदिरा-पान क्या बट्टेखाते में जायगा ? वियोगियों का जला देना क्या हँसी-खेल है ? अभी तो जरा सी कारिख लगी है, कुछ दिनों में सारा मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर भी कवियों ने कई कल्पनाएँ की हैं। आलम कहते हैं—

बिधु ब्रह्म कुलाल को चक्र कियो, मधि राजति कालिमा रेनु लगी।
छबि धौं सुरभीर पियूख की कीच कि बाहन पीठ की छाँह खगी॥
कवि आलम, रैनि सँजोगिनि है पिय के सुख संगम रंग पगी।
गये लोचन बूढ़ि चकोरन के सु मनो पुतरीन की पाँति जगी॥

अन्त की क्या ही अनोखी सूझ है—'गये लोचन बूढ़ि चकोरन के सु मनो पुतरीन की पाँति जगी।' चकोरों ने तुम्हारी सुन्दरता देखते-देखते अपनी आँखें डुबो दीं—तल्लीन कर दीं। यह कालिमा उन्हीं की पुतलियों की है, आँख के तारों की है। चकोर की लगन भी आदर्श-रूप है। अहा !

चिनगी चुगै अँगार की, चुकै कि चन्द-मयूख।

—बिहारी

चकोर अङ्गार की चिनगारियाँ क्यों चुगता है ? इसलिए कि आग खाकर मर जाऊँ। फिर भस्म हो जाऊँ और वह भस्म शिवजी अपने मस्तक पर चढ़ावें। चन्द्रशेखर के ललाट पर प्यारे

चन्द्रमा का वास है ही। बस, वहाँ उससे भेंट हो जायगी। आग चुगने का यही तात्पर्य है।

चिनगी चुगत चकोर यों, भसम होइ यह अङ्ग।
ताहि रमावै शिव तहाँ, मिलै पाऊँ ससि अङ्ग॥

कुमुद-बान्धव, तुम्हें भी चकोर का कुछ ख्याल है? न होगा, तुम बड़े ही कठोर हो। तुम्हारा हृदय एक दम काला है।

विष-रस भरा कनक घट जैसे।

अस्तु, तुम्हारी कालिमा पर गुसाईं तुलसीदास ने भी कुछ सूक्तियाँ लिखी हैं। श्रीरामचन्द्र जी के पूछने पर सुग्रीव प्रमुख मन्त्री उत्तर देते हैं—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि की छाई॥
मारेहु राहु ससिहि, कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥
कोउ कह, जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर मांही। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं॥

मन्त्रियों से यथेष्ट उत्तर न पाकर प्रभु स्वयं बोले—

कह प्रभु, गरल बन्धु ससि केरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा॥

भक्तवर हनुमान जी ने हाथ जोड़ कर कहा—

कह हनुमन्त, सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरत तेहि उर बसत, सोइ स्यामता भास॥

बलिहारी! क्या ही अनोखी उक्ति है?

अब तक तो यही सुनने में आया था कि चन्द्रमा की उत्पत्ति

समुद्र से है; पर बेनी कवि इस सम्बन्ध की एक निराली ही बात बतला रहे हैं। उनकी राय में चन्द्रमा की उत्पत्ति यों हुई है—

राधे को बनाय विधि धोयो हाथ, जाम्यो रङ्ग,
ताको भयो चन्द्र, कर झारे भये तारे हैं।

जब ब्रह्मा राधिका जी बना चुका, तब हाथ धोकर चुपचाप बैठ गया। समझ गया होगा कि अब इनसे सुन्दर कौन बन सकेगा। हाथ धोने से जो रंग छूटा, उसका, जम जाने पर, चन्द्रमा बन गया और हाथ झाड़ देने से जो इधर-उधर बूँदे गिरीं वही तारे हो गये। स्यात् इसी कारण से शिवजी ने इसे अपने मस्तक पर किया हो। पर भगवान् भूतभावन की कृपा बङ्क मयङ्क पर है, पूर्ण मृगाङ्क पर नहीं। पद्मकोट के रसिक-भ्रमर पण्डित श्रीधर पाठक ने इस बङ्क मयङ्क पर बड़ी ही उत्तम उत्प्रेक्षाएँ लिखी हैं—

दिसि-भामिनि-भ्रू-भङ्ग, काल-कामिनी-निहंग असि।
कै जामिनि रही अधर-बिंब सौं मन्द हाँसि हँसि॥
मंदाकिनि-तट पर्यो तृषित जल-हीन मीन कोइ।
तदपि रह्यो तनछीन व्योमचर कै नवीन कोइ॥
वृत्र-विदारक इन्द्र-कुलिस की कुटिल नौंक तू।
निसि-बिरहिनि तन लगी मदन की किधौं जौंक तू॥
निसा-योगिनी-भाल भस्म को बाँकौ टीकौ।
कै माया-महिषी-किरीट छाया सुश्री कौ॥
कै सुमेरु सुचि-वर्न स्वर्न-सागर को कौंड़ा।
कै सुर-कानन कदलि-मूल को कोमल बौंड़ा॥

किधौं स्वर्ग-फुलवारी के माली को हँसिया।
कै अमृत एकत्र करन की सेत अँकुसिया॥
रवि-हय-खुर की छाप किधौं, कै कीली।
काल-चक्र की हाल परी खण्डित, कै नाल नुकीली॥
नभ-आसन-आसीन कोई कै तपोलीन ऋषि।
कै कछु जोति मलीन, कृसित सोइ कलाछीन ससि॥

सबने षोडश-कला-युक्त चन्द्रमा का वर्णन किया है, पर हमारे पाठक ने दो ही कलावाले बङ्क मयङ्क पर कमाल हासिल कर दिखाया है !

मयंक ! तुम सदा टेढ़े रहते, तो राहु को तुम्हें ग्रसने का कभी साहस न होता। कहा भी है—

वक्र चन्द्रमहि ग्रसइ न राहू।

वक्र चन्द्रमा से राहु इसीसे डरता है कि कहीं यह जोंक की तरह चपट कर रक्त न चूस ले। अथवा हँसिया की तरह काट कर काम तमाम न कर डाले। पर, सदा एक सी स्थिति में रहना चन्द्रमा के भाग्य में ही नहीं लिखा। पौष्टिक पदार्थों का सेवन करते-करते जैसे-जैसे पूर्णिमा तक हृष्ट-पुष्ट हुए भी, तो फिर रोग ने आ धर दबाया। बीमारी बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि अमा-वस की रात काल-रात्रि हो गई ! इस रोग को स्वर्ग के वैद्यराज अश्विनीकुमार तक दूर नहीं कर सके। औरों की गिनती ही क्या ? हाँ, एक उपाय से निस्सन्देह चन्द्रमा का रोग नष्ट हो सकता है। यदि यह विरही जनों का रुधिर-पान करना छोड़

दे, तो मिनटों में बीमारी चली जाय। कुपथ्य करने से कहीं औषध प्रभाव डाल सकती है ? अब भी चन्द्रमा परहेज से चलने लगे तो एक भी रोग न रहे, सदा हृष्ट-पुष्ट रहे, नित्य ही पूर्णमासी का आनन्द भोगे। पर वह दुर्बुद्धि हमारे उपाय के अनुसार क्यों चलने लगा।

जाको प्रभु दारुन दुख देहीं। ताकी मति पहलेहि हरि लेहीं॥

निशानाथ ! अब भी चेत जाओ, नहीं तो कोई तुम्हें कौड़ी दाम पर भी न पूछेगा। हमने तो यहाँ तक सुना है कि तुम अपने पद से हटाये जाने वाले हो। महाकवि बिहारी को तुम्हारी जरूरत नहीं रही। उन्हें एक ऐसी चन्द्रमुखी नायिका मिल गई है, जो नित्य ही पूर्णिमा की छटा दिखा देती है। असली पर्व की पूनो जानने के लिए पञ्चाङ्ग से काम ले लिया जाता है। अब तुम किस काम के रहे ?

पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँ पास।
नित-प्रति पून्यौ ही रहतु, आनन-ओप-उजास॥

कहो, बर्खास्त हुए न ? पेन्शन की भी आशा न करना। क्योंकि तुम्हारे और तो सब कसूर माफ हो जायँगे, पर एक माफ न होगा। तुमने एक दिन भगवान् की अवज्ञा की थी। वे तुम्हें बुलाते ही रहे, पर तुमने गर्ववश अनसुना कर दिया। यदि तुम नीचे उतर कर नन्द-नन्दन का मनोरञ्जन कर देते, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता ? बाल-गोविन्द ने तुम्हें लाल-लाल खिलौना समझा था। तुम्हारे साथ हँसते, नाचते,कूदते, पर यह सुख—

यह रस, तुम्हें नहीं बदा था ! श्रीकृष्ण तुम्हें देख कर कैसे मचल गये हैं ! अपनी यशोदा मैया से कहते हैं—

मैया यह मीठो कै खारो । देखत लगत मोंहि यह प्यारो ॥
देहि मँगाय निकट मैं लैहौं । लागी भूख चन्द मैं खैहौं ॥

स्यात् इसी से न आये होगे कि कहीं श्रीकृष्ण मुझे सचमुच ही न खा जायँ। किन्तु तुम्हारा अज्ञान है। भगवान् तुम्हें क्या खाते, तुम्हारे काल को खा जाते। तुम्हें अमर कर देते। अस्तु।

यशोदा जी समझाने लगीं कि लला चन्दा के ताईं हठ न करो—

देखत रहौ खिलौना चन्दा । हठ नहिं कीजै बाल-गोविन्दा ॥
मधु मेवा पकवान मिठाई । जो भावै सो लेहु कन्हाई ॥

कन्हैया नहीं माने, रोते ही रहे। यशोदा मैया ने एक थाली में पानी भरकर कृष्ण से कहा—

लेहू लाल यह चन्द्र, मैं लीन्हौं निकट बुलाय ॥
रोवै इतने के लिए तेरी, स्याम, बलाय ॥

थाली में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर बाल-कृष्ण कुछ शान्त हुए, पर जब पकड़ने से वह हाथ न आया तब फिर रोने लगे, फिर मचल गए—

लउँगो री मा चन्दा लउँगो । वाहि आपने हाथ गहौंगो ॥
यह तो झलमलात जल माहीं । मेरे कर में आवत नाहीं ॥

यशोदा जी बोलीं—लला, चन्दा तोकों डरै है, मारे डर के बेचारो भाजि कै पाताल पैठि गयो—

तुम तिहि पकरन चहत गुपाला । ताते ससि भजि गयो पताला ॥
अब तुमतें ससि डरपति भारी । कहत, कहौं हरि सरन तुम्हारी ॥

चन्द्रदेव ! यशोदा जी को धन्यवाद दो, जिन्होंने श्रीकृष्ण से तुम्हारी तरफ से इतनी अच्छी सिफारिश कर दी । जाओ, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा । अशरणशरण कृष्णचन्द्र तुम्हारा कल्याण करेंगे । क्या तुमने भगवान् का यह अभय-वचन नहीं सुना—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

बस, वही भक्तवत्सल भगवान् तुम्हें निष्कलङ्क कर सकेंगे, वही 'वैद्यो नारायणोहरिः' तुम्हारे सब रोगों का नाश करेंगे ।

—वियोगी हरि

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन

रात अब बहुत ही थोड़ी रह गई है । सुबह होने में कुछ ही कसर है । जरा सप्तर्षि नाम के तारों को तो देखिये । वे आसमान में लम्बे पड़े हुए हैं । उनका पिछला भाग तो नीचे को झुका सा है और अगला ऊपर को । वहीं उनके अधोभाग में छोटा सा ध्रुव तारा कुछ-कुछ चमक रहा है । सप्तर्षियों का आकार गाड़ी के सदृश है—ऐसी गाड़ी के सदृश, जिसका जुवाँ ऊपर को उठ गया हो । इसी से उनके और ध्रुव-तारा के दृश्य को देख कर श्रीकृष्ण

के बालपन की एक घटना याद आ जाती है। शिशु श्रीकृष्ण को मारने के लिए एक बार गाड़ी का रूप बना कर शकटासुर नाम का एक दानव उनके पास आया। श्रीकृष्ण ने पालने में पड़े ही पड़े खेलते-खेलते उसे एक लात मार दी। उसके आघात से उसका अग्र भाग ऊपर को उठ गया और पश्चाद्भाग खड़ा ही रह गया। श्रीकृष्ण उसके तले आ गये। वही दृश्य इस समय सप्तर्षियों की अवस्थिति का है। वे तो कुछ उठे हुए-से लम्बे पड़े हैं; छोटा-सा ध्रुव उनके नीचे चमक रहा है।

पूर्व दिशा रूपिणी स्त्री की प्रभा इस समय बहुत ही भली मालूम होती है। वह हँस सी रही है। वह यह सोचती सी है कि इस चन्द्रमा ने जब तक मेरा साथ दिया—जब तक यह मेरी सङ्गति में रहा—तब तक उदित ही नहीं रहा, इसकी दीप्ति भी खूब बढ़ी। परन्तु देखो वही अब पश्चिम दिशा रूपिणी स्त्री की तरफ़ जाते ही हीन-दीप्ति होकर पतित हो रहा है। इसी से पूर्व दिशा चन्द्रमा को देख-देख प्रभा के बहाने ईर्षा से मुसका सी रही है। परन्तु चन्द्रमा को उसके हँसी-मजाक की कुछ भी परवा नहीं वह अपने ही रँग में मस्त मालूम होता है। अस्त-समय होने के कारण उसका बिम्ब तो लाल है; पर किरणें पुराने कमल की नाल के कटे हुए टुकड़ों के समान सफ़ेद हैं। स्वयं सफ़ेद होकर भी, बिम्ब की अरुणता के कारण, वे कुछ-कुछ लाल भी हैं। कुङ्कुम-मिश्रित सफ़ेद चन्दन के सदृश उन्हीं लालिमा मिली हुई सफ़ेद किरणों से चन्द्रमा पश्चिम-दिग्वधू का शृङ्गार-सा कर रहा है—

उसे प्रसन्न करने के लिए उसके मुख पर चन्द का लेप-सा समा रहा है। पूर्व-दिग्वधू के द्वारा किये गये उपहास की तरफ उसका ध्यान ही नहीं।

मद्यपान करने से, नशे के कारण, स्त्रियों के मुख पर लालिमा आ जाती है। इस दशा में मदमाती स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा जाती रहती है, और वे अपने मुँह से घूँघट हटा देती हैं। अरुणोदय हो जाने के कारण पूर्वदिग्-रूपिणी स्त्री का भी मुख, इस समय मदमाती स्त्री ही के मुख के सदृश लाल हो रहा है। घूँघट हट जाने की कसर थी। सो चन्द्रमा ने अपने सफ़ेद-सफ़ेद किरणों का जाल उसके मुख से हटा कर उस कमी की भी पूर्त्ति कर दी। इस कारण, चन्द्रमा की बदौलत, पूर्वदिगङ्गना का खुला हुआ अरुण मुख, घूँघट से निकला हुआ-सा, बहुत ही शोभायमान हो रहा है।

जब कमल शोभित होते हैं तब कुमुद नहीं और जब कुमुद शोभित होते हैं तब कमल नहीं। दोनों की दशा बहुधा एक-सी नहीं रहती। परन्तु इस समय, प्रातःकाल, दोनों में तुल्यता देखी जाती है। कुमुद बन्द होने को हैं, पर अभी पूरे बन्द नहीं हुए। उधर कमल खिलने को हैं, पर अभी पूरे खिले नहीं। एक की शोभा आधी ही रह गई है, और दूसरे की आधी ही प्राप्त हुई है। रहे भ्रमर, सो अभी दोनों ही पर मँडरा रहे हैं। और गुञ्जा-रव के बहाने दोनों ही की प्रशंसा के गीत-से गा रहे हैं। इसी से, इस समय, कुमुद और कमल दोनों ही समता को प्राप्त हो रहे हैं।

अन्धकार के विकट बैरी महाराज अंशुमाली अभी तक दिखाई भी नहीं दिये। तथापि उनके सारथी अरुण ही ने उनके अवतीर्ण होने के पहले ही, थोड़े ही नहीं, समस्त तिमिर का समूल नाश कर दिया। बात यह है कि जो प्रतापो पुरुष अपने तेज से अपने शत्रुओं का पराभाव करने की शक्ति रखते हैं, उनके अग्र-गामी सेवक भी कम पराक्रमी नहीं होते। स्वामी को श्रम न देकर वे खुद ही उनके विपत्तियों का उच्छेद कर डालते हैं। इस तरह, अरुण के द्वारा, अखिल अन्धकार का तिरोभाव होते ही बेचारी रात पर आफत आ गई। इस दशा में वह कैसे ठहर सकती थी। निरुपाय होकर वह भाग चली। रह गई दिन और रात की सन्धि, अर्थात् प्रातःकालोन सन्ध्या, सो अरुण कमलों ही को आप इस अल्पवयस्क सुता-सदृश सन्ध्या के लाल-लाल और अतिशय कोमल हाथ-पैर समझिये। मधुप-मालाओं से छाये हुए नील कमलों ही को काजल लगी हुई इसकी आँखें जानिये। पक्षियों के कल-कल शब्द ही को इसकी तोतली बोली अनुमान कीजिये। ऐसी सन्ध्या ने जब देखा कि रात इस लोक से जा रही है, तब पक्षियों के कोलाहल के बहाने यह कहती हुई कि 'अम्माँ, मैं भी आती हूँ' वह उसी के पीछे दौड़ गई।

अन्धकार गया, रात गई, प्रातःकालीन सन्ध्या भी गई। विपत्ति-दल के एकदम ही पैर उखड़ गये। तब, रास्ता साफ देख, वासर-विधाता भगवान् भास्कर ने निकल आने की तैयारी की। कुलिश-पाणि इन्द्र की पूर्व दिशा में नये सोने के समान उनकी

पीली-पीली किरणों का समूह छा गया। उनके इस प्रकार आविर्भाव से एक अजीब ही दृश्य दिखाई दिया। आपने बड़वानल का नाम तो सुना ही होगा। वह एक प्रकार की आग है, जो समुद्र के जल को जलाया करती है। सूर्य्य के उस लाल-पीले किरण-समूह को देख कर ऐसा मालूम होने लगा, जैसे वही बड़वाग्नि समुद्र की जल-राशि को जला कर, त्रिभुवन को भस्म कर डालने के इरादे से समुद्र के ऊपर उठ आई हो। धीरे-धीरे दिननाथ का बिम्ब क्षितिज के ऊपर आ गया। तब एक और ही प्रकार के दृश्य के दर्शन हुए। ऐसा मालूम हुआ, जैसे सूर्य का वह बिम्ब एक बहुत बड़ा घड़ा है और दिग्वधुएँ जोर लगा कर समुद्र के भीतर से उसे खींच रही हैं। सूर्य की किरणों ही को आप लम्बी-लम्बी मोटी रस्सियाँ समझिये। उन्हीं से उन्होंने बिम्ब को बाँध-सा दिया है और खींचते वक्त, पक्षियों के कलरव के बहाने वे यह कह-कह कर शोर मचा रही हैं कि खींच लिया है, कुछ ही बाकी है; ऊपर आने ही चाहता है, जरा और जोर लगाना।

दिगङ्गनाओं के द्वारा खींच-खाँच कर किसी तरह सागर की सलिल-राशि से बाहर निकाले जाने पर सूर्य-बिम्ब चमचमाता हुआ लाल-लाल दिखाई दिया। अच्छा, बताइये तो सही, यह इस तरह का क्यों है। हमारी समझ में तो यह आता है कि सारी रात पयोनिधि के पानी के भीतर जब पड़ा था, तब बड़वाग्नि की ज्वाला ने इसे तपा कर खूब दहकाया होगा। तभी तो

खैर (खादिर) के जले हुए कुन्दे के अङ्गार के सदृश लालिमा लिए हुए यह इतना शुभ्र दिखाई दे रहा है ! अन्यथा, आप ही कहिये, इसके इतने अङ्गार-गौर होने का और क्या कारण हो सकता है।

सूर्यदेव की उदारता और न्यायशीलता तारीफ के लायक है। तरफदारी तो उसे छू तक नहीं गई। पक्षपात की तो गन्ध तक उसमें नहीं। देखिये न, उदय तो उसका उदयाचल पर हुआ, पर क्षण ही भर में उसने नये किरण-कलाप को उसी पर्वत के शिखर पर नहीं, किन्तु सभी पर्वतों के शिखरों पर फैला कर उन सब की शोभा बढ़ा दी। उसकी इस उदारता के कारण इस समय ऐसा मालूम हो रहा है, जैसे सभी भूधरों ने अपने शिखरों, अपने मस्तकों पर, दुपहरिया के लाल-लाल फूलों के मुकुट धारण कर लिये हों। सच है, उदारशील सज्जन अपने चारु चरितों से अपने ही उदय-देश को नहीं, अन्य देशों को भी आप्यापित करते हैं।

उदयाचल के शिखर-रूप आँगन में बाल-सूर्य्य को खेलते हुए धीरे-धीरे रेंगते देख पद्मिनियों का बड़ा प्रमोद हुआ। सुन्दर बालक को आँगन में जानु-पाणि चलते देख स्त्रियों का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। अतएव उन्होंने अपने कमल-मुख के विकास के बहाने हँस-हँस कर उसे बड़े ही प्रेम से देखा। यह दृश्य देख कर माँ के सदृश अन्तरिक्ष-देवता का हृदय भर आया। वह पक्षियों के कलरव के मिस बोल उठी—आ जा, आ जा, आ बेटा, आ। फिर क्या था; बाल-सूर्य बाल-लीला दिखाता हुआ

झट अपने मृदुल कर (किरणें) फैला कर, अन्तरिक्ष की गोद में कूद गया। उदयाचल पर उदित होकर जरा ही देर में वह आकाश में आ गया।

आकाश में सूर्य्य के दिखाई देते ही नदियों ने विलक्षण ही रूप धारण किया। दोनों तटों या कगारों के बीच से बहते हुए जल पर सूर्य्य की लाल-लाल प्रातःकालीन धूप जो पड़ी तो वह जल परिपक्व मदिरा के रंग-सदृश हो गया। अतएव ऐसा मालूम होने लगा, जैसे सूर्य्य ने अपने किरण-बाणों से अन्धकार-रूपी हाथियों की घटा को सर्वत्र मार गिराया हो। उन्हीं के घावों से निकला हुआ रुधिर बह कर नदियों में आ गया हो, और उसी के मिश्रण से उनका जल लाल हो गया हो। कहिये, यह सूझ कैसी है ? बहुत दूर की तो नहीं ?

तारों का समुदाय देखने में बहुत भला मालूम होता है, यह सच है। यह भी सच है कि भले आदमियों को न कष्ट ही देना चाहिए और न उनको उनके स्थान से च्युत ही करना—हटाना ही—चाहिए। परन्तु सूर्य्य का उदय अन्धकार का नाश करने ही के लिए होता है और तारों की श्रीवृद्धि अन्धकार ही की बदौलत है। इसीसे लाचार होकर सूर्य्य को अन्धकार के साथ ही तारों का भी विनाश करना पड़ा—उसे उनको भी जबरदस्ती निकाल बाहर करना पड़ा। बात यह है कि शत्रु की बदौलत ही जिन लोगों को सम्पत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है, उनको भी मार भगाना ही पड़ता है—शत्रु के साथ ही उनका भी विनाश-साधन करना ही

पड़ता है। न करने से भय का कारण बना ही रहता है। राजनीति यही कहती है।

सूर्योदय होते ही अन्धकार भयभीत होकर भागा। भाग कर वह कहीं गुहाओं के भीतर और कहीं घरों के कोनों और कोठरियों के भीतर जा छिपा। मगर वहाँ भी उसका गुजारा न हुआ। सूर्य यद्यपि बहुत दूर आकाश में था, तथापि उसके प्रबल तेजः प्रताप ने छिपे हुए अन्धकार को उन जगहों से भी निकाल बाहर किया। निकाला ही नहीं, किन्तु उसका सर्वथा नाश भी कर दिया। बात यह है कि तेजस्वियों का कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि एक निश्चित स्थान में रह कर भी, वे अपने प्रताप की धाक से दूर-स्थित शत्रुओं का भी सर्वनाश कर डालते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों ही आकाश की दो आँखों के समान हैं। उनमें से सहस्र-किरणात्मक-मूर्त्तिधारी सूर्य ने ऊपर उठ-उठ कर जब अशेष लोकों का अन्धकार दूर कर दिया तब वह खूब ही चमक उठा। उधर बेचारा चन्द्रमा किरणहीन हो जाने से बहुत ही धूमिल हो गया। इस तरह आकाश की एक आँख तो खूब तेजस्क, और दूसरी तेजोहीन हो गई। अतएव ऐसा मालूम हुआ जैसे एक आँख प्रकाशवती और दूसरी अन्धीवाला आकाश काना हो गया हो।

कुमुदनियों का समूह शोभाहीन हो गया और सरोरुहों का समूह शोभासम्पन्न। उलूकों को तो शोक ने आ घेरा और चकवाओं को अत्यानन्द ने। इसी तरह सूर्य तो उदय हो गया

और चन्द्रमा अस्त। कैसा आश्चर्यजनक विरोधी दृश्य है ? दुष्ट दैव की चेष्टाओं का परिपाक कहते नहीं बनता। वह बड़ा विचित्र है। किसी को तो वह हँसाता है, किसी को रुलाता है।

सूर्य को आप दिग्वधुओं का पति समझ लीजिये और यह भी समझ लीजिये कि पिछली रात वह कहीं और किसी जगह, अर्थात् विदेश, चला गया था। मौका पाकर इसी बीच, उसकी जगह पर चन्द्रमा आ विराजा। पर ज्योंही सूर्य्य अपना प्रवास समाप्त करके, सवेरे, पूर्व दिशा में फिर आ धमका, त्योंही उसे देख चन्द्रमा के होश उड़ गये। अब क्या हो ? और कोई उपाय न देख, अपने किरण-समूह को कपड़े-लत्ते के सदृश छोड़ वह पश्चिम-दिशारूप खिड़की के रास्ते निकल भागा।

महामहिम भगवान् मधुसूदन जिस समय कल्पान्त में, समस्त लोकों का प्रलय, बात की बात में, कर देते हैं उस समय अपनी समधिक अनुरागवती श्री (लक्ष्मी) को धारण करके—उन्हें साथ लेकर—क्षीरसागर में अकेले ही जा विराजते हैं। दिन चढ़ आने पर महिमामय भगवान् भास्कर भी, उसी तरह एक क्षण में, सारे तारा-लोक का संहार करके, अपनी अतिशायिनी श्री (शोभा) के सहित, क्षीरसागर ही के समान आकाश में, देखिये, अब ये अकेले ही मौज कर रहे हैं।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

दो-दो बातें

——:ꕥ:——

कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नहीं बहुत कुछ थे। देवता हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग में हमारी धूम थी, और धरती हमारे उधारने से ही उधरती थी। हम आसमान में उड़ते, समुद्र को छानते, जङ्गलों को खँगालते, और पहाड़ों को हिला देते थे, दुनिया में हमारे नाम-लेवा थे, देश-देश में हमारी धाक थी, दिशाएँ हमारी जोत से जगमगाती थीं और आसमान के तारे हमें आँख फाड़-फाड़ कर देखते थे। हम अन्धकार में उजाला करते थे, बन्द आँखों को खोलते थे, सोतों को जगाते थे, और उकठे काठ को भी हरा-भरा बना देते थे। सूरमापन हम पर निछावर होता था, दिलेरी हमारे बाँट में पड़ी थी, बहादुरी हमारा दम भरती थी, और आनबान हमारा बाना था। हम बेजान में जान डालते थे, सूखी नसों में लहू भरते थे, बिगड़ों को बनाते थे, गिरों को उठाते थे, बेजड़ों की जड़ जमाते, और भूलों को राह पर लगाते थे। बड़े-बड़े अठकपाली हमारे सामने अपना अठ-कपालीपन भूल जाते थे। हमारा तेवर बदलते ही बेतरह आँख बदलने वाले राजा-महाराजाओं का रङ्ग बदल जाता था, और दुनिया में हवा बाँधने वालों के चेहरों पर हवा-इयाँ उड़ने लगती थीं। आज ये बातें मुँह पर नहीं लाई जा सकतीं। अब हमारा रङ्ग इतना बिगड़ गया है कि हम पहचाने

भी नहीं जा सकते। हमीं लोगों में ऐसे लोग हैं, जो यह जानते ही नहीं कि हम क्या और कौन थे और अब क्या हो गये। इसमें न किसी का जादू काम कर रहा है और न किसी का टोना, न दैव हमारे पीछे पड़ा है, न बुरा भाग। जो कुछ हम भोग रहे हैं, वे हमारी करतूतों के फल हैं, और आज भी वे हमें रसातल ले जा रही हैं।

आज दिन हमारे सिर-धरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलनेवाले भी आग लगा रहे हैं और भगवा पहनने वाले भी भाँग खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूँछें उखाड़ कर मूँछ मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रँग कर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, सगों का पेट काट कर अपना पेट पाल रहे हैं, और बेबसों के घर को जला कर अपने घर में घी के दीये बाल रहे हैं। पूँजी वालों का पेट दिन-दिन मोटा हो रहा है पर किसी सटे-पेट वाले को देखते ही उनकी आँख पर पट्टी बँध जाती है। सण्डे-मुसण्डे डण्डे के बल माल भले ही चाब लें, पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही हैं, उनको वे कानी कौड़ी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुँह देख कर जीते हैं, हम उन्हीं को निगल रहे हैं, और जो हमारे भरोसे पाँव फैला कर सोते हैं, हम उन्हीं को आँखें बन्द करके लूट रहे हैं। हमीं में डूब कर पानी पीने वाले हैं, आँख में उँगली करने वाले हैं, खड़े बाल निगलनेवाले हैं, आग लगा कर पानी को दौड़ने वाले हैं, रँगे सियार हैं, भीगी बिल्ली हैं, और काठ के उल्लू हैं।

आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़ कर बैठी है, बैर अकड़ा हुआ खड़ा है, अनबन की बन आई है, और रगड़े-झगड़े गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। हमसे लम्बी-लम्बी बातें सुन लो, लम्बी डगें भरने की कहानियाँ कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है। आँख होते हमें सूझता नहीं, कान होते हम सुनते नही, हाथ होते हम बे हाथ हैं, और पाँव होते बे पाँव। समझ चल बसी, बिचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गई, सूझ को पाला मार गया, मगर कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। बेटियाँ बिक रही हैं, माँ-बहिनें लुट रही हैं, जोरू पिस रही हैं, मगर हमें दाँत पीसना भी नहीं आता। दूसरे धूल में फूल उगाते हैं, हमें फूल में भी धूल ही हाथ आती है। लोग काँटों में फूल चुनते हैं, हम काँटों में उलझ-उलझ मरते हैं। आबरू उतर गई, पत-पानी चला गया, बड़ाई धूल में मिल गई, मगर हम धूल फाँकने में ही मस्त हैं!

हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँखों के तारे भी नहीं देते। हम पर लगा कर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रँग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रँग को भी बदरँग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल-जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति-जाति को मिलाते चलते हैं, मगर ताब अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जाति-हित की तानें सुनाने के लिए

सामने आते हैं, मगर ताने दे-दे कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिन्दू-जाति को एक रँग में रँगाना चाहते हैं, मगर जाति-जाति के अपनी-अपनी डफली और अपने-अपने राग ने रही-सही एकता को भी धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचा उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।

हिन्दू-जाति अपनी भूलभुलैयाँ में बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में फफोले पड़ रहे हैं। जितना ही जल्द हिन्दुओं की आँखें खुलें, उतना ही अच्छा। हमें उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें बनाना, उन्हें खिजाना, उनकी उमङ्गों को मटियामेट करना पसन्द नहीं, अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाड़ी कौन मारेगा, अपनी उँगलियों से अपनी आँखों को कौन कुचलेगा ? मगर अपनी बुराइयों, कमजोरियों, भूल-चूकों, ऐबों; लापरवाहियों और ना-समझियों पर आँख डालनी पड़ेगी, बिना इसके निर्वाह नहीं।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

खलीफा मामूँ-रशीद

मुसलमान शासकों में खलीफा मामूँ-रशीद बड़ा ही सहृदय, विद्या-प्रेमी, विद्वान और न्याय-परायण शासक हुआ है। यह सुप्रसिद्ध खलीफा हारूँ-रशीद का पुत्र था। विद्या-प्रेम के लिए हारूँ-रशीद का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। हारूँ-रशीद ने एक बहुत बड़ा अनुवाद-विभाग बेतुल हिकमत (विद्या-मन्दिर) नाम से कायम किया था, जिसमें बड़े-बड़े विद्वान् विविध भाषाओं से उपादेय ग्रन्थों के अनुवाद करने पर नियुक्त थे। मामूँ-रशीद ने इस विभाग की अपने शासन-काल में बहुत उन्नति की। इसने सुदूर देशों से बड़े-बड़े वेतनों पर अनेक विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों को बुला कर अपने यहाँ इकट्ठा किया, और अनुवाद द्वारा विविध विषयों के ग्रन्थ-रत्न से अरबी भाषा को मालामाल कर दिया। इस विद्या-मन्दिर के बहुत से अनुवादकों का वेतन आजकल के हिसाब से ढाई-ढाई हज़ार रुपये मासिक था। वेतन के अतिरिक्त पुरस्कार भी यथेष्ट मिलता था। मशहूर है कि मामूँ प्रत्येक पुस्तक के अनुवाद के बदले में पुस्तक के बराबर सोना तोल कर देता था। अनुवादकों में अनेक भिन्नमतावलम्बी विदेशी विद्वान् थे, जिनके साथ मामूँ का बर्ताव अत्यन्त उदारतापूर्ण था। मुसलमान शासक धार्मिक विद्वेष के लिए बदनाम रहे हैं; पर मामूँ इस विषय में बहुत उदार था। उसके दरबार में बहुत से

पारसी, यहूदी, ईसाई और हिन्दू विद्वान् थे, जिन्हें अपने धार्मिक कृत्यों में पूरी स्वतन्त्रता थी। मामूँ-रशीद स्वयं भी अनेक विषयों का बहुत बड़ा विद्वान् था। गणित और फिलसफे उसके अत्यन्त प्रिय विषय थे। उसके गणित-प्रेम का परिचय इसी से मिलता है कि उसको आस्तीनों पर उकलैदस के पहले मिकाले की ५वीं शक्ल का तुगरा (चित्र-बन्ध) बना हुआ था; क्योंकि यह शक्ल (रेखा) उसको बहुत ही प्रिय थी। इसी कारण अरबी में पाँचवीं शक्ल को शक्ले-मामूनी कहते हैं। मामूँ के सिवा और किसी मुसलमान-बादशाह को यह फख्र (गौरव) हासिल नहीं है कि उसके नाम से कोई इल्मी इसतलाह (परिभाषा) कायम हुई हो।

मामूँ का विद्या-प्रेम

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, हारूँ-रशीद का कायम किया हुआ बेतुल-हिकमत या अनुवाद-विभाग मौजूद था, जिसमें पारसी, ईसाई, यहूदी, हिन्दू अनुवादक थे, जो फिलसफे की पुस्तकों का अनुवाद और रचना करते रहते थे; पर अब तक जो सामग्री एकत्र हुई थी, वह मामूँ की विज्ञान-पिपासा को शान्त करने में अपर्याप्त थी।

मामूँ ने एक रात स्वप्न में देखा कि एक पूज्य-प्रतिष्ठित व्यक्ति उच्च आसन (तख्त) पर आसीन है। मामूँ ने समीप जाकर पूछा—आपका शुभ नाम ? तख्तनशीन ने कहा—अरस्तू। यह सुन कर मामूँ हर्षातिरेक से विह्वल हो उठा। फिर अर्ज

किया—हज़रत, दुनिया में कौन सी चीज अच्छी है ? ख्याली अरस्तू ने उत्तर दिया—जिसे अक्ल (बुद्धि) अच्छा कहे। दुबारा मामूँ ने दरख़्वास्त की कि मुझको शिक्षा प्रदान कीजिये। उत्तर मिला—तौहीद (अद्वैतवाद) और सत्सङ्गति को हाथ से न जाने देना। मामूँ योंही फिलसफे पर मिटा हुआ था; अरस्तू के इस स्वप्न-दर्शन ने और भी आग पर घी का काम दिया। उसने कैसर-रूम को खत लिखा कि अरस्तू की जिस कदर पुस्तकें मिल सकें भेजी जायँ। कैसर-रूम ने इसके उत्तर में पाँच ऊँट लाद कर फिलसफे की किताबें मामूँ के पास भेजीं। मामूँ ने और भी बहुत से योग्य आदमियों को प्राचीन पुस्तकों की खोज में, पर्याप्त धन दे-देकर, इधर-उधर भेजा। देश-देशान्तरों से ढूँढ़-ढूँढ़ और चुन-चुन कर पुस्तकें मँगाईं, और उनके अनुवाद कराये। मामूँ एक आदर्श विद्या-प्रेमी, विद्वान् और गुणग्राहक शासक था। मामूँ का यह असाधारण विद्या-प्रेम उस समय और भी आदरणीय प्रतीत होता है, जब हम इतिहास में पढ़ते हैं कि मामूँ के पूर्ववर्त्ती एक खलीफा ने ही सिकन्दरिया का जगत्प्रसिद्ध पुस्तकालय जला कर खाक कर दिया था। और भी कितने ही धर्मान्ध नृशंस शासकों ने अनेक बार पुस्तकों से हम्माम गरम कराये हैं। विद्या-विद्वेष के दुर्दृश्य पुराने असभ्य समय में अशिक्षित शासकों द्वारा ही संसार को देखने नहीं पड़े, प्रत्युत सभ्यता के ठेकेदार योरप की सुशिक्षित शक्तियों ने भी ऐसी होली कई बार खेली है। बक्सर-विद्रोह के समय जब चीन पर योरप के नव-

ग्रहों ने चढ़ाई की थी, उस समय का समाचार एक प्रत्यक्ष-दर्शी ने बड़े दुःख से लिखा है कि चीन के अत्यन्त प्राचीन राजकीय विद्यालय की बहुमूल्य अलभ्य पुस्तकें और ऐतिहासिक सामग्री हफ़्तों तक गाड़ियों में लाद-लादकर शाही महल के सहन में इकट्ठी की गई और जलाई गई, जिसकी राख से पेकिन की चौड़ी सड़कें पट गईं और कुएँ अट गये। लोवेन के पुस्तकालय की जो दुर्दशा सभ्यताभिमानी जर्मनों ने की वह तो अभी कल की नई घटना है। मतलब यह कि विद्या-प्रेम किसी जाति की बपौती नहीं है। प्रत्येक जाति में विद्या-प्रेमी और विद्या-विद्वेषी होते रहे हैं। मामूँ-रशीद के प्रशंसनीय विद्या-प्रेम पर मुसलमान जाति ही नहीं, एशिया-निवासी समुचित गर्व कर सकते हैं। मामूँ के समय जिन विद्या-सम्बन्धी भारतीय और यूनानी ग्रन्थों के अनुवाद हुए, बाद को प्रायः उन्हीं के सहारे योरप में विद्या-प्रकाश पहुँचा। इस प्रकार योरप भी उसका बहुत अच्छा ऋणी—अधमर्ण—है।

मामूँ की क्षमाशीलता

मामूँ विद्या-प्रेम की दृष्टि से ही प्रशंसनीय नहीं, वह जैसा उच्च कोटि का विद्वान् था, वैसा ही प्रथम श्रेणी का सुशासक भी था। उसमें शासकोचित समस्त सद्गुण अत्यधिक मात्रा में विद्यमान थे। पर उसकी क्षमाशीलता और न्याय-परायणता सीमा से भी आगे बढ़ गई थी। इन दो गुणों के कारण उसका

शासन इसलाम के इतिहास में 'बदनाम' है। नीति-निपुण सज्जनों की सम्मति में शासक में 'भीम' और 'कान्त' दोनों गुण समान मात्रा में होने आवश्यक हैं। इस गुण-निधि शासक-रत्नाकर में कमनीय रत्न-ही-रत्न भरे थे, भयानक जन्तुओं का अभाव था। इस 'अभाव' की अक्सर शिकायत की गई है।

मौलाना शिबली मामूँ की जीवनी में लिखते हैं—मामूँ के उदार चरित पर यदि कुछ नुकता-चीनी हो सकती है, तो यह हो सकती है कि उसका रहम (दया) इन्साफ़ (न्याय) और एतदाल की हद (औचित्य की सीमा) से आगे बढ़ गया था, जिसका यह असर था कि उसने जाती हकूक को (व्यक्तिगत स्वत्वों को) बिलकुल नजर-अन्दाज कर दिया था। बदजबान शायर उसकी हिजो (निन्दापरक कविता) लिखते थे, पर वह ध्यान न देता था। उसके नौकर गुस्ताखियाँ करते थे, लेकिन उसे जरा परवा नहीं होती थी। यही नहीं, उसकी निन्दा में कवियों ने जो कविताएँ लिखी थीं, वे उसे कण्ठस्थ थीं। वह कविता की दृष्टि से उनकी दाद देता और प्रशंसा किया करता था। वह अच्छी कविता का बड़ा कदरदान और स्वयं सुकवि था। उस समय एक अरबी कवि बड़ा ही उद्दण्ड और निन्दा लिखने में सौदा की तरह सिद्धहस्त था। उसकी हिजोगोई से अक्सर लोग तङ्ग थे। उसके बारे में एक बार मामूँ के चचा इबराहीम ने शिकायत की कि उसकी बदजबानियाँ हद से गुजर गई हैं। मेरी ऐसी हिजो (निन्दा) लिखी है, जो किसी तरह दर-गुजर के काबिल

नहीं। इबराहीम ने उस हिजो के कुछ पद्य भी सुनाये। मामूँ ने कहा—चचाजान, उसने मेरी हिजो इससे भी बढ़ कर लिखी है, चूँकि मैंने दर-गुजर की, उम्मीद है आप भी ऐसी दर-गुजर करेंगे। इबराहीम ही नहीं, उस कवि की करतूत से सारा दरबार परेशान था। मामूँ के एक प्रतिष्ठित दरबारी ने, जो स्वयं भी कवि था, कई बार उस निन्दक कवि के विरुद्ध मामूँ को भड़काया कि आखिर दर-गुजर कहाँ तक? मामूँ ने कहा कि अच्छा, यदि बदला ही लेना है, तो तुम भी उसकी निन्दा लिख दो; परन्तु सिर्फ यही लिखो कि वह लोगों की निन्दा में जो कुछ कहता है गलत कहता है। मामूँ अक्सर कहा करता था कि मुझे क्षमा-प्रदान में जो मजा आता है, यदि लोग उसे जान जायँ; तो अपराध और आज्ञा-भङ्ग का मेरे पास 'तोहफा' लेकर आवें। मामूँ को दावा था कि बड़े-से-बड़ा अपराध भी मेरी क्षमाशीलता को भङ्ग नहीं कर सकता। एक आदमी से, जो अनेक बार आज्ञा-भङ्ग का अपराध कर चुका था, मामूँ ने कहा कि—'तू जिस कदर गुनाह (अपराध) करता जायगा, मैं बराबर बख्शता जाऊँगा, यहाँ तक कि आखिर वह मेरा क्षमा-भाव तुझे थका कर दुरुस्त कर देगा।' मामूँ को अपनी इस हद से बढ़ी हुई क्षमाशीलता पर (जो शासन-नीति के विरुद्ध है) अभिमान था। वह फख्र (गौरव) से कहता था कि दास और दासियाँ अक्सर अपनी गोष्ठी में मुझको गालियाँ देती हैं, और मैं खुद अपने कानों से सुन कर जान-बूझ कर टाल जाता हूँ। इस क्षमाशीलता के कारण

मामूँ के गुलाम तक इतने ढीठ हो गये थे कि जवाब दे बैठते थे। मामूँ के एक मुसाहिब ने एक ऐसी ही आँखों-देखी घटना का उल्लेख किया है। उसका बयान है कि मैं (मुसाहिब) एक बार मामूँ की खिदमत में हाजिर था। मामूँ ने गुलाम को आवाज दी, पर कोई न बोला। फिर पुकारा तो एक तुर्की गुलाम हाजिर हुआ और बड़बड़ाने लगा कि क्या गुलाम खाते-पीते नहीं ? जब जरा किसी काम से बाहर गये तो आप 'या गुलाम या गुलाम !' चिल्लाने लगते हैं; आखिर 'या गुलाम की' कोई हद भी है ? मामूँ ने सिर झुका लिया और देर तक सिर नीचा किये बैठा रहा। मैंने समझा कि बस, अब गुलाम की खैर नहीं। मामूँ ने मेरी ओर देखकर कहा—'नेक-मिजाजी में यह बड़ी आफत है कि नौकर और गुलाम धृष्ट और बद-मिजाज हो जाते हैं, पर यह तो नहीं हो सकता कि उन्हें विनीत बनाने के लिए मैं स्वयं दुर्विनीत बनूँ'।

यह बात ठीक हो सकती है कि शासक के लिए इतनी सहनशीलता शोभा नहीं देती, इससे उसकी प्रतिष्ठा में फर्क आता है, रोब-दाब जाता रहता है; पर मामूँ ने इस सीमातिक्रान्त गुण से अपने 'जाती हकूक' भले ही भुला दिए हों, सर्व-साधारण के स्वत्वों की वह पूरी रक्षा करता था। अपने व्यक्तिगत मिथ्या गौरव की उसे परवा न थी, पर इससे उसकी न्याय-निष्ठा में कुछ अन्तर नहीं आने पाता था। क्षमाशीलता कुछ निर्बलता के कारण नहीं थी। यह उसके समवेदना-शील, सहानुभूति-पूर्ण और दयार्द्र

अन्तःकरण का पूरा प्रतिबिम्ब था। उसे इस पर गर्व था और समुचित गर्व था। इस विषय में उसका यह सिद्धान्त था कि—शरीफ़ (सज्जन) की यह पहचान है कि अपने से बड़े को दबा ले और छोटे से खुद दब जाय। इस सिद्धान्त का वह सच्चा अनुगामी था, जैसा कि उसके जीवन की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं से सिद्ध है।

न्याय-निष्ठा

उसके उच्च पदाधिकारियों के अन्याय की जब कोई शिकायत उसके पास पहुँचती थी, तो वह बड़े ध्यान से सुनता और समुचित प्रतीकार करता था। एक बार उसके एक बहुत बड़े अधिकारी के विरुद्ध किसी ने अर्जी दी। मामूँ ने उस पर यह हुक्म लिख कर वह अर्जी उस अधिकारी के पास भेज दी—'जिस वक्त तक एक आदमी भी मेरे दरवाजे पर तेरी शिकायत करने वाला मौजूद है, तुझको मेरे दरबार में रसाई (पहुँच) न होगी।' मामूँ के भाई अबू-ईसा की किसी ने शिकायत की। मामूँ ने अपने भाई को लिखा—'प्रलय के दिन जब इन्साफ़ होगा तो कुल और गौरव पर ध्यान नहीं दिया जायगा।' हमीद नामक एक दूसरे अधिकारी को किसी की शिकायत पर यह कह कर फटकारा—'ए हमीद, दरबारीपने पर न भूलना, न्याय की दृष्टि में तू और कमीना गुलाम दोनों बराबर हैं।' ऐसे ही प्रसङ्ग पर एक और अधिकारी को यह डाँट बतलाई—'तेरा बे-तमीज और दुःस्वभाव होना तो मैंने गवारा (सहन) किया। लेकिन प्रजा

पर जुल्म करना तो नहीं बरदाश्त कर सकता हूँ।' उमरू नामक उद्दण्ड पदाधिकारी को यह उपदेशपूर्ण भर्त्सना की—'ए उमरू, अपने को अदल (न्याय) से आबाद कर, जुल्म तो उसका ढा देने वाला है।'

मामूँ का यह उपदेश दूसरों के लिये ही नहीं था, न्याय-दण्ड का प्रहार सहने को वह स्वयं भी सहर्ष सदा तय्यार रहता था। रविवार का दिन उसने दीन-दुखियों की पुकार सुनने के लिए नियत कर रक्खा था। उस दिन वह प्रातःकाल से लेकर दिन ढले तक दरबार-आम करता था, जिसमें खास व आम किसी के लिये कुछ रोक न थी और जहाँ पहुँच कर एक कमजोर मजदूर को भी अपने हकूक में शाही-खानदान की बराबरी का दाबा होता था।

एक दिन एक दीन बुढ़िया ने दरबार में आकर जबानी शिकायत पेश की कि एक जालिम (अन्यायी) ने मेरी जायदाद छीन ली है। मामूँ ने कहा—किसने और वह कहाँ है ? बुढ़िया ने इशारे से बताया कि 'आपके पहलू (बगल) में'। मामूँ ने देखा तो खुद उसका बड़ा बेटा अब्बास था। वजीर-आजम को हुक्म दिया कि शाहजादे को बुढ़िया के बराबर ले जाकर खड़ा कर दे; दोनों के इजहार सुने। शाहजादा अब्बास रुक-रुक कर आहिस्ता गुफ़्तगू करता था लेकिन बुढ़िया की आवाज निर्भयता के साथ ऊँची होती जाती थी। वजीर-आजम ने रोका कि खलीफा के सामने चिल्ला कर बोलना खिलाफे-अदब (सभ्यता के विरुद्ध) है।

मामूँ ने कहा—जिस तरह चाहे, आज़ादी से कहने दो, सचाई ने उसकी जबान तेज़ कर दी है और अब्बास को गूँगा बना दिया है। अखीर में मुकद्दमे का फैसला बुढ़िया के हक में हुआ, और जायदाद वापस दिला दी गई।

मामूँ की इस आज़ाद-पसन्दी (स्वातन्त्र्य-प्रियता) ने उसके न्यायाधिकारियों को भी न्याय-परायणता में बहुत स्वतन्त्र और निर्भय बना दिया था।

एक बार खुद मामूँ पर एक शख़्स ने तीस हज़ार का दावा दायर किया, जिसकी जवाब-देही के लिये उसको (मामूँ को) दारुल-कजा (चीफ़-जस्टिस के इजलास) में हाजिर होना पड़ा। सेवकों ने क़ालीन लाकर बिछाया कि खलीफा (मामूँ) उस पर तशरीफ रक्खें, लेकिन काजीउल-कुज्जात (चीफ़ जस्टिस) ने मामूँ से कहा कि आप और मुद्दई दोनों बराबर दर्जा रखते हैं। मामूँ ने कुछ बुरा न माना, बल्कि इस न्याय-निष्ठा के पुरस्कार में चीफ़-जस्टिस का वेतन और बढ़ा दिया।

ये घटनाएँ मामूँ की न्याय-प्रियता और प्रजापालन-दक्षता के उज्ज्वल प्रमाण हैं। आजकल की रोशनी के जमाने में प्रजातन्त्र-प्रणाली के शासनों में भी, ऐसे उदाहरण कहीं ढूँढ़े न मिलेंगे। झूठी धाक (Prestige) की मान-मर्यादा के लिए भयङ्कर हत्या-काण्डों पर पालिसी का पर्दा डाल कर असलियत को छिपा देना ही आजकल की राजनीति हो गई है। जिनके मत में अन्याय-पीड़ित प्रजा के आर्त्तनाद को बग़ावत समझना और दाद के

बदले दण्ड देना ही आतङ्क बिठाने का बढ़िया उपाय है, वे भले ही मामूँ की शासन-योग्यता पर सन्देह या नुकताचीनी करें, पर इन्साफ़ से देखा जाय तो मामूँ वास्तव में सच्चा शासक था। फिर यह भी नहीं कि वह निरा नरम ही था। उसके न्याय-मार्ग में जो रुकावट डालता था, चाहे वह कितना ही प्रभावशाली या प्रिय व्यक्ति क्यों न हो, उसका जानी दुश्मन था। वजीर-आज़म फजल, जो बचपन से उसका साथी था, जिसने मामूँ की हर मुश्किल में मदद की, जिसके बल-पराक्रम से मामूँ ने निष्कण्टक राज्य पाया और साम्राज्य बढ़ाया, वह जब अधिकार-मद में अत्याचार पर उतारू हुआ, न्यायार्थियों को खलीफा के पास पहुँचने में बाधा देने लगा, सब उसके आतङ्क से काँपने लगे, सच जाहिर करने में डरने लगे, तब, यद्यपि वह सल्तनत में स्याह-सफ़ेद का मालिक था—खलीफा भी उसकी कारगुजारियों का बड़ा कृतज्ञ था, उसका बहुत लिहाज करता था; पर उसकी न्याय-बाधा को अधिक सहन न कर सका। आखिर खलीफा ने फजल का काँटा छाकर ही छोड़ा—कण्टकोद्धार करके न्याय-मार्ग को निष्कण्टक बना कर ही दम लिया। सचमुच वह अपने इस आदर्श (Motto) के अनुसार सच्चा शरीफ था—'शरीफ की यह पहचान है कि वह अपने बड़ों को दबाये, और छोटे से खुद दब जाय।'

जासूसी विभाग

मामूँ को सर्व-साधारण के समाचार जानने का बड़ा शौक था। १७०० बूढ़ी औरतें मुकर्रर थीं, जो तमाम दिन शहर बग़दाद

में फिरती थीं, और शहर का कच्चा-चिट्ठा उसको पहुँचाती थीं,
गर मामूँ के सिवा किसी को उनके नामो-निशान का, नाम-धाम
का, पता न था। हर सीरो (विभाग) में अलग-अलग खुफिया-
नवीस और वाकानिगार (घटना-लेखक, रिपोर्टर) मुकर्रर थे।
मुल्क का कोई जरूरी वाका उससे छिपा न रह सकता था; पर यह
अजीब बात है कि इस तरह की कुरेद और खोज का जो यह
आम असर होता है कि हर शख्स से बदगुमान हो जाना, और
सर्व-साधारण की स्वतन्त्रता में बाधक होना, मामूँ इस ऐब से
बिलकुल बरी था। उसके जीवन-इतिहास का एक-एक अक्षर छान
डालो, एक घटना भी ऐसी नहीं मिल सकती जिससे उसकी इस
कार्रवाई पर हरफ आ सके। मामूँ के इस खुफिया महकमे से
प्रजा को बहुत लाभ पहुँचता था। मामूँ को लोगों के भेद जानने
का एक व्यसन सा था, वह भेदिया-विभाग पर लाखों रुपये खर्च
करता था, पर ये भेदिये आजकल की तरह के 'भेड़िये' नहीं होने
पाते थे। मामूँ चुगुलखोरों और पिशुनों का जानी दुश्मन था।
इस विषय में उसके उच्च बिचार सोने के अक्षरों में लिखने के
लायक हैं। उसके सामने जब पर-निन्दक पिशुनों का प्रसङ्ग आता
था, तो वह कहा करता था कि—उन लोगों की निसबत तुम क्या
ख्याल कर सकते हो जिन्हें ईश्वर ने सच कहने पर भी लानत
(धिक्कार) की है ? उसका कथन था कि जिस शख्स ने किसी की
शिकायत करके अपनी इज्जत मेरी आँखों में घटा दी, फिर किसी
तरह उसे नहीं बढ़ा सकता।

शिबली लिखते हैं कि मामूँ यद्यपि बड़ी शान-शौकत का बादशाह था। नामवरी के दफ़्तर में इतिहास-लेखकों ने उसके प्रभुत्व की महत्वपूर्ण गाथाएँ मोटे अक्षरों में लिखी हैं, पर हमारी राय में जो चीज उसके जीवन-चरित को अत्यन्त अलंकृत और प्रभावशाली बना देती है, वह उसकी सादा-मिजाजी और बेतकल्लुफी है। एक ऐसा बादशाह जो तख़्त-हुकूमत पर बैठकर कुल इस्लामी दुनिया के भाग्य का विधाता बन जाता है, किस कदर अजीब बात है कि, आम दोस्तों से मिलने-जुलने में सल्तनत की शान का लिहाज रखना पसन्द नहीं करता। अक्सर विद्वान् और गुणी पुरुष रात को उसके अतिथि होते थे और उसके बिस्तर से बिस्तर लगा कर सोते थे। पर उसका आम बर्ताव ऐसा ही होता था, जैसा कि एक अन्तरङ्ग मित्र का मित्र के साथ होता है। काजी यहिया एक रात उसके मेहमान थे। अचानक आधी रात के बाद उनकी आँख खुल गई और प्यास मालूम हुई। चूँकि चेहरे से व्याकुलता प्रकट होती थी, मामूँ ने पूछा—कुशल है? काजी साहब ने प्यास की शिकायत की। मामूँ खुद चला गया और दूसरे कमरे से पानी की सुराही उठा लाया। काजी साहब ने घबरा कर कहा—हुजूर ने नौकरों को आज्ञा दी होती। मामूँ ने मुहम्मद साहब की एक आज्ञा सुना कर कहा कि सेवा-भाव ही आदमी को बड़ा बनाता है। रात को सेवक सो जाते थे, तो वह खुद उठ कर चिराग़ और शमा दुरुस्त कर देता था।

एक बार बाग़ की सैर को गया। काजी यहिया भी साथ थे।

मामूँ उनके हाथ में हाथ देकर टहलने लगा। जाने के वक्त धूप का रुख काजी साहब की तरफ था, वापस आते वक्त मामूँ की तरफ बदल गया। काजी साहब ने चाहा कि धूप का पहलू खुद ले लें जिससे मामूँ छाया में आ जाय; पर मामूँ ने यह न माना और कहा कि यह बात इन्साफ़ से बहुत दूर है। पहले मैं छाया में था, अब वापसी के वक्त तुम्हारा हक है। मामूँ की सादा-मिजाजी उस समय और विचित्र मालूम होती है, जब इसी अब्बासी खान्दान के उससे पहले खलीफाओं के चरित्रों पर दृष्टि डाली जाती है। मामूँ के परदादा खलीफा महदी से पहले तो दरबारियों को खलीफा के दर्शन भी न मिलते थे। खलीफा के सिंहासन के आगे कोई बीस हाथ के फासले पर एक बहुमूल्य परदा पड़ा रहता था, और दरबारी लोग उससे कुछ फासले पर हाथ बाँधे खड़े होते थे, खलीफा परदे की ओट में बैठ कर आज्ञा प्रदान करता था। यद्यपि खलीफा महदी ने खिलाफत के चेहरे से यह उपचार-पूर्ण परदा उठा दिया था, पर फिर भी और बहुत-से तकल्लुफ के परदे अभी बाकी चले आते थे। मामूँ के अहद तक तमाम दर-बार अब तक इसी तरह के रीति-रिवाज का पाबन्द चला आता था। मामूँ ने अपनी सादा-मिजाजी से दरबार के कायदों में बहुत कुछ बे-तकल्लुफी और सादगी पैदा कर दी थी।

विद्वानों का सम्मान

मामूँ विद्वानों का कितना क़दरदान था, विद्वानों के सम्मान का उसे कितना ध्यान था, इसका पता इन नीचे लिखी घटनाओं

से अच्छा मिलता है। मामूँ के दो पुत्र फर्रा नामक एक विद्वान् से शिक्षा पाते थे। एक बार उक्त शिक्षक किसी काम के लिए अपनी गद्दी से उठा, दोनों शाहज़ादे दौड़े कि जूतियाँ सीधी करके आगे रख दें, पर क्योंकि दोनों साथ पहुँचे, इस पर झगड़ा हुआ कि गुरु-सेवा का यह श्रेय किसे प्राप्त हो। आखिर दोनों ने आपस में फ़ैसला कर लिया। हरएक ने एक-एक जूता सामने लाकर रक्खा। मामूँ ने एक-एक चीज पर पर्चेनवीस (रिपोर्टर) मुकर्रर कर रक्खे थे। फौरन इत्तला हुई, और उस्ताद फर्रा बुलाये गये। मामूँ ने उससे कहा—आज दुनिया में सबसे अधिक प्रतिष्ठित और पूज्य कौन है ? फर्रा ने कहा—अमीर-उल-मोमनीन (मुसलमानों के स्वामी—मामूँ) से अधिक प्रतिष्ठित कौन हो सकता है ? मामूँ ने कहा—वह, जिसकी जूतियाँ सीधी करने पर अमीर-उल-मोमनीन के प्राणोपम पुत्र भी आपस में झगड़ा करें ! फर्रा ने उत्तर दिया—मैंने खुद शाहज़ादों को रोकना चाहा था, पर फिर खयाल हुआ कि उनके इस श्रद्धाभाव में बाधक क्यों बनूँ। मामूँ—यदि तुम उनको रोकते, तो मैं तुमसे बहुत अप्रसन्न होता, इस बात ने उनकी इज्जत (प्रतिष्ठा) कुछ कम नहीं की; किन्तु कुलीनता और शिष्टता का और परिचय दे दिया। बादशाह, बाप और गुरु की सेवा से इज्जत बढ़ती है, घटती नहीं। यह कह कर लड़कों को गुरु-भक्ति और फर्रा को अध्यापन-दक्षता के पुरस्कार में दस-दस हजार दर्हम दिलाये।

मामूँ अनेक विषयों का असाधारण विद्वान् था। विद्वत्ता की

दृष्टि से वह एक आदर्श प्रामाणिक पुरुष माना जाता था, पर उसे अहङ्कार और आग्रह छू नहीं गया था। अपनी गलती को गलती मान लेने में उसे जरा सङ्कोच न था, 'बुद्धेःफलमनाग्रहः' का इससे उत्तम उदाहरण और क्या होगा कि एक शब्द की एक ज़रा-सी ज़ेरो-जबर की गलती बताने पर एक विद्वान् को उसने इतना पुरस्कार दे डाला, जितना किसी ने अपनी प्रशंसा में कसीदा (कविता) सुन कर भी न दिया होगा।

मामूँ को विद्या का व्यसन था। मामूँ की विद्या-सभा में बीस विद्वद्रत्न थे, जो हज़ारों विद्वानों में से चुन कर रक्खे गए थे। मामूँ को जिस प्रसिद्ध विद्वान् का कहीं पता मिलता, जिस तरह बनता उसे अपने यहाँ बुलाने का प्रयत्न करता। उस समय यूनान में 'लीव' या 'ल्यू' नामक कोई तत्त्ववेत्ता विद्वान् था। उसके लिये मामूँ ने शाह-यूनान को लिखा—उक्त विद्वान् को आज्ञा दी जाय कि वह मुझे यहाँ आकर फिलासफी पढ़ा जाय, जिसके बदले में सदा के लिये सन्धि की प्रतिज्ञा और पाँच टन सोना देना मञ्जूर करता हूँ (एक टन २७ मन के क़रीब होता है)। कितनी भारी गुरु-दक्षिणा है ! और शाश्वततिक सन्धि की प्रतिज्ञा इसके अतिरिक्त !!

ये उल्लिखित घटनाएँ मामूँ की उदारता के समुद्र में से दो-एक बिन्दु हैं। उसका समस्त जीवन-वृत्तान्त इसी प्रकार के उदारतापूर्ण उपाख्यानों से भरा हुआ है। इस छोटे से लेख में किस-किस का उल्लेख किया जाय। ऐसी बातें इस जमाने में

निरी कहानियाँ मालूम होती हैं; लेकिन वह जमाना कवि के शब्दों में बड़ी हसरत में कह रहा है—

बयाँ ख़्वाब की तर जो कर रहा है,
यह किस्सा है जब का कि आतिश जवाँ था।

—पद्मसिंह शर्मा

जीने का मोह

जिस समय हम मानव-समाज में फैले हुए अत्याचारों पर गम्भीर दृष्टि डालते हैं और अन्य प्राणियों के घोर जीवन-संग्राम की करुणा-जनक कथाएँ पढ़ते हैं, तब हम आश्चर्य-चकित होकर यह कहने लगते हैं कि इस दुनिया में इतना अन्याय क्यों है। जो लोग ईश्वर को मानते हैं वे तो किसी-न-किसी प्रकार झूठे-सच्चे तर्क-वितर्क करके अपनी तसल्ली कर लेते हैं और लोक-परलोक के असंख्य जन्मों का ताना-बाना बुनकर जगत् में फैले हुए दुःख-सुख की मीमांसा करके 'अपना' मन सन्तुष्ट कर लेते हैं। परन्तु जो ईश्वर को नहीं मानते, जो वस्तुस्थिति का सीधा, सच्चा और सरल उत्तर चाहते हैं, वे अँधेरे में टटोलते रह जाते हैं और उनके मुँह से बे-इख्तियार यही निकलता है कि यह संसार सक्षम प्राणियों के लिये है, इसमें धूर्त्त, बेईमान और चालाक आदमियों के लिए ही स्थान है, ईश्वर पर विश्वास करना केवल ढकोसला है।

अधिकांश मूर्ख जनता भाग्य के गढ़े में गिर कर अत्याचारों के दु:खों को भूलने का प्रयत्न करती है। लेकिन किसी की समझ में कोई बात नहीं आती और कवि भटक-भटक कर यह कहने लगता है—

पढ़े भटकते हैं लाखों दाना,
करोड़ों पण्डित, हज़ारों स्याने।
जब आखिरेकार खूब देखा,
खुदा की बातें खुदा ही जाने।

पर वह खुदा क्या वस्तु है, कवि स्वयं भी उस उलझन से नहीं निकल सका—गोल-मोल बात कहकर रह गया। इस प्रकार न जाने कब से संसार में फैले हुए घोर पापों के कारणों के समझने का प्रयत्न मनुष्य ने किया, और कैसे-कैसे महात्मा, मसीहा और पैग़म्बर, ऋषि-महर्षि और साधु-सन्त अपनी-अपनी फिलासफी लेकर आए और चले गए, लेकिन समस्या अभी तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है!

असल में बात यह है कि जीवन के आदर्श को स्पष्ट रूप से समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। मनुष्य और पशु में कहाँ भेद प्रारम्भ होता है, इसकी मीमांसा नहीं की गई। धर्म और अधर्म के पचड़ों में फँस कर असली प्रश्न से लोग दूर हट गए और दया तथा अहिंसा के घने जंगल में ऐसे फँसे कि असली प्रश्न का रूप ही बदल गया।

यहाँ हम स्पष्ट रूप से इस प्रश्न को उपस्थित करते हैं।

बिचारने की सबसे पहली वस्तु है जीवनादर्श। जीवनादर्श ईश्वर-प्राप्ति नहीं, मोक्ष की लालसा नहीं, स्वर्ग की सैर नहीं, निर्वाण-सुख का लेना नहीं, बल्कि जीवनादर्श अनन्त ज्ञान की खोज करना है। हमारे सामने जो यह असीम ब्रह्माण्ड है, जिसके विषय में चिन्तन करते हुए माथा चकराने लगता है, उसी के विषय में हमें जानना है। कोई-कोई यह कहते हैं कि जिसने यह बनाया है वही जान लिया जाय तो बाकी सब आसानी से समझ में आ सकता है, अर्थात् इस ब्रह्माण्ड के रचने वाले ईश्वर को जान लेने से हमें सब वस्तुओं का ज्ञान हो जायगा। हमारा निवेदन यह है कि आज तक ऐसी शक्ति को कोई नहीं जान पाया जिसकी सहायता से वह हमें असंख्य तारागणों के विषय में बतला सके। बे-पर की बात उड़ा देना दूसरी बात है। कुछ लोगों ने अपने स्वप्नों के अनुभवों को बतला कर इस बात को सिद्ध करना चाहा है कि उनकी आत्मा उड़ कर एक लोक से दूसरे लोक को चली गई। लेकिन उनके अनुभवों की सत्यता का कोई प्रमाण हमें नहीं मिल सकता। संक्षेप में हमारा कहना यह है कि आज तक किसी भाषा के साहित्य में इस पृथ्वी को छोड़कर अन्य लोकों के विषय में प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता। हाँ, गपोड़ों से भरे हुए ग्रन्थ सैकड़ों मिलते हैं।

अच्छा तो सबसे पहली बात हमने यह तय की है कि जीवनादर्श अनन्त ज्ञान की खोज है और प्रत्येक प्राणी को

जीने का अधिकार तभी मिल सकता है जब वह इसकी खोज में आगे पग बढ़ाने का प्रयत्न करे। जीने का मोह एक व्याधि है, जिसके कारण पशु और मानव-समाज में घोर अत्याचार दिखाई देते हैं। आदर्श को न समझने के कारण सभी पशु अत्याचार को सिर झुका कर सहन कर लेते हैं। इसी प्रकार मानव-समाज में यह जीने का मोह ही है, जो सारे पापों की खान है। हम दूसरों की गुलामी इसीलिए सहन कर रहे हैं कि हम में जीने का मोह सिर से पैर तक भरा हुआ है। हम अन्धे हैं, लँगड़े-लूले हैं, व्याधि से ग्रस्त हैं और पागलखाने में बन्द हैं, तो भी हममें जीने का मोह विद्यमान है। जमीन पर रेंग कर चलते हुए हम दूसरों से पैसे की भीख माँगते हैं, ताकि हमारा पापी पेट भरे और हम जीते रहें। व्याधि से हम पीड़ित हैं, तो भी जीने का मोह हमसे चिपटा हुआ है। हम रोज झिड़कियाँ सहते हैं, भयङ्कर अपमान-जनक भर्त्सना सुनते हैं, और अपने सामने अपने स्त्री-बच्चों पर अत्याचार होते हुए देखते हैं, लेकिन तिस पर भी हम हाथ नहीं उठाते, क्योंकि हम में जीने का मोह विद्य-मान है। पीरों, पैग़म्बरों और धर्मोपदेशकों ने हमें यह बतलाया है कि अपाहिजों और मिस्कीनों को खिलाना चाहिए, क्योंकि इसमें बड़ा पुण्य है। पर हम इसे महापाप समझते हैं, क्योंकि यह तरीका केवल उनके जीवन के दुःखों को लम्बा करने का है। हाँ, यदि हम किसी कला, सङ्गीत अथवा शिक्षा के द्वारा उन्हें जीवनादर्श की ओर ले जा सकते हैं, तो बेशक उन्हें जीने का

अधिकार मिल जाता है। सिद्धान्त यह है कि या तो हम स्वयं अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले यात्री बनें, अथवा उन यात्रियों के इस अन्वेषण में साधन-स्वरूप हों। जीना केवल जीने के लिए नितान्त अनुचित है।

उस अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले यात्री के पास कैसे साधन होने चाहिए? यह बात ध्रुव सत्य है कि—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। अर्थात् सबसे पहला आवश्यक साधन जीवन-यात्रा के लिए शरीर है। शरीर अत्यन्त नीरोग, बलिष्ठ, और फुर्तीला होना चाहिए। उसमें सोचने का माद्दा भरपूर हो। जिनके पास शरीर-रूपी साधन है वही इस यात्रा पर चल सकते हैं। अतएव वे सब सिद्धान्त, सभी दार्शनिक बिचार और महापुरुषों द्वारा कहे हुए सभी उपदेश रद्दी की टोकरी में फेंकने लायक हैं, यदि वे शरीर को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जो फिलासफी शरीर की अवहेलना सिखलाती है और इसे गन्दा, मिट्टी और अनित्य कह कर इसका निरादर करना सिखाती है, वह फिलासफी किसी प्रकार भी मानव-समाज के लिए हितकर नहीं है। संसार में दो ही वंशों के लोग ऐसे हुए हैं जिन्होंने शरीर की महत्ता को भले प्रकार समझा था—एक तो प्राचीन काल के आर्य लोग और दूसरे यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक। आर्यों ने जीवन के सौन्दर्य की उपासना की थी और वे अपने देवी-देवताओं से सुख-भोग के पदार्थ तथा अच्छी बुद्धि माँगा करते थे। अपना बिशाल राष्ट्र बनाने की उनकी उत्कण्ठा थी और वे जीवन के आनन्द

को भोगना पाप नहीं समझते थे। जीवन की चार अवस्थाएँ कर उन्होंने अपनी गम्भीर बुद्धिमत्ता का परिचय दिया और सभी प्रकार की समस्याओं का हल सोचने का द्वार खोल दिया। यूनानी लोग भी जीवन के आदर्श को समझते थे। वे सौन्दर्य के पुजारी थे। ऊँचे दर्जे की व्यायाम-शालाओं का उन्होंने आविष्कार किया था और शरीर के पूर्ण विकास के साधन उन्होंने हृदयङ्गम कर लिए थे। शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए, यह बात वे भले प्रकार जानते थे। सब प्रकार की कलाएँ मानव-मस्तिष्क के लिये कितनी आवश्यक हैं, इससे वे खूब परिचित थे। जीवन का अत्यन्त उदार आदर्श रख कर उन्होंने अनन्त ज्ञान की खोज करने का मार्ग ढूँढ निकाला था। इसी कारण अपने काल में उनकी उन्नति सर्वतोमुखी हुई। आर्य लोग भी अनन्त ज्ञान की तलाश में तल्लीन हो गए थे, परन्तु उन्होंने अध्यात्म मार्ग पकड़ा और उसी के द्वारा ब्रह्माण्ड के गूढ़ तत्वों के समझने में यत्नशील हुए। इस प्रकार इस पृथ्वी पर दो धाराएँ अनन्त ज्ञान की खोज के लिए बहीं। यूनान से निकली हुई धारा योरप की शस्यदा भूमि में पहुँची और वहाँ उसने अद्भुत चमत्कार कर दिखलाया। चार-पाँच सौ वर्षों के अन्दर ही उस धारा के विज्ञान-सलिल ने योरप के मस्तिष्क को स्वतन्त्र कर दिया और वहाँ प्रकृति के इस अद्भुत खजाने के रत्नों की खोज करने वाले सैकड़ों यात्री कार्य-क्षेत्र में निकल पड़े। यह सच है कि झूठी राष्ट्रीयता ने उनके अन्वेषणों का नाजायज फायदा उठा कर संसार में दुःखद सामग्री

भी उत्पन्न कर दी है। परन्तु यह बात भी निर्विवाद है कि वहाँ के यात्री आज पञ्चभूतों को वश में करके नित्य नये आश्चर्य-जनक आविष्कार मानव-समाज के सामने रख रहे हैं।

जो धारा प्राचीन काल के आर्यों के मस्तिष्क से निकली, वह आगे चल कर सूखने लगी, क्योंकि उसमें शरीर का दुरुपयोग तथा उसका अनादर करने वाले सिद्धान्त मिल गये। निस्सन्देह बौद्ध-काल में मस्तिष्क को स्वतन्त्र करने की भारी चेष्टा की गई, परन्तु जीवन के आनन्द का पूर्ण दर्शन बौद्ध-फिलासफी में मौजूद न था। अपने एकाङ्गीपन के कारण बोधि-वृक्ष के मूल से निकली हुई वह धारा भी अत्यन्त गँदली हो गई और उससे अध:पतन के सभी सामान मिल गये। परिणाम-स्वरूप यूनान की वैज्ञानिक धारा के सामने आज वह हाथ जोड़े हुए भिखारिन बनकर खड़ी है और अपनी सड़न को दूर करने के लिए विज्ञान के ताजा जल की भिक्षा माँग रही है ताकि उसका कूड़ा-कचड़ा साफ हो जाय और वह जीवनादर्श की ओर चल सके।

जीने का अधिकार किसको है? उसको नहीं, जिसमें जीवन का मोह है। जीने के मोह के कारण ही प्राचीन आर्यों के इन वंशजों ने शताब्दियों तक गुलामी के डण्डे सहे हैं। जीवन का मोह एक भयङ्कर व्याधि है, जिससे निकले बिना मानव-स्वरूप के दर्शन नहीं हो सकते। पशु और मनुष्य में धर्म और अधर्म के कारण भेद नहीं, भेद केवल वहीं प्रारम्भ होता है, जहाँ मनुष्य जीने के मोह को छोड़ कर जीवनादर्श की ओर मुँह करता है।

संसार के जितने स्त्री-पुरुष जीवन के मोह में फँसे हुए काल-यापन कर रहें हैं वे सब पशुओं की गणना में हैं। उनमें और पशुओं में रत्ती भर भेद नहीं है। जिस समय कोई स्त्री और पुरुष जीने के मोह की निद्रा को भङ्ग कर चैतन्य होकर आँखें खोलता है तब उसका स्वरूप बदल जाता है, जगत् के सभी पदार्थ उसके लिए नव-सन्देश देने वाले हो जाते हैं और वह आह्लाद से भर जाता है। तब वह देखता है कि सचमुच यह जगत् स्वर्ग है और इसमें अन्याय केवल तभी तक है जब तक जीने का मोह स्त्री-पुरुषों में विद्यमान है। जीने के मोह में डूबे हुए अत्याचारियों के पाँवों के तले रौंदे जाने वाले इन स्त्री-पुरुषों को जीने का क्या अधिकार है ?

हाँ, जीने का मोह हम में क्यों ओतप्रोत है ? यह इसीलिए कि हम यह नहीं जानते कि शरीर भी ऐसा ही परिवर्तनशील है, जैसा कि पानी का भाप बनना। जिसको यह ज्ञान नहीं है वह निरा पशु है। प्रत्येक पशु केवल अनन्त ज्ञान की खोज करने वाले यात्री के सहायतार्थ जीता है और कोई दूसरा लक्ष्य उसके जीने का नहीं। यदि उत्तरी ध्रुव का रहने वाला कोई अनन्त ज्ञान का यात्री माँस खा कर,पशुओं को मार कर,अपनी यात्रा का पथ सुगम करता है तो इसमें पाप के लिये कहाँ गुञ्जायश है ? हमने जीने के मोह को नई परिभाषा देकर एक गलत सिद्धान्त का प्रचार दुनिया में कर दिया है और वह गलत सिद्धान्त अहिंसा का है। अहिंसा का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य मांस न खाय या किसी का बध न करे,

बल्कि उसका यह अर्थ है कि क्या उसने वह हिंसा का कार्य निपट स्वार्थ के लिए किया है या मानव-समाज में नये ज्ञान की वृद्धि करने के लिए उसे साधन बनाया है। जिस समय हम अपने आदर्श को स्पष्ट कर लेंगे और वह आदर्श अपनी पूर्ण ज्योति में हमारे सामने खड़ा हो जायगा तब दूसरे थोथे और लचर विचार धुन्ध की तरह काफूर हो जायँगे। हम केवल थोथी बातों में अपना समय नष्ट कर रहे हैं। और कल्पना के घोड़े दौड़ा कर जन्म-जन्मान्तरों की कहानियाँ गढ़ रहे हैं। यह जीने का मोह इसीलिए है, क्योंकि हमने अनन्त ज्ञान की खोज का पथ छोड़ दिया है, ज्ञान की पिपासा हममें से निकल गई है, प्रभु के ब्रह्माण्ड की ओर कभी हम देखते नहीं; देखते हैं केवल अपने पेट को और उस पेट में से निकले हुए अपने बच्चों को। सबसे अधिक जीने का मोह आज हिन्दुओं में ही है—वे हिन्दू, जो अध्यात्मवाद की डींग हाँकते हैं, पर यह नहीं देखते कि उनका वह स्रोत प्रायः सूख सा गया है। जिनमें जीने का थोड़ा सा भी मोह, साधारण आदर्श के लिये दूर हो जाता है, वे भी ऐसे काम कर दिखलाते हैं कि दर्शक चकित रह जाते हैं। पर जो अनन्त ज्ञान की खोज करने के लिए उद्यत हों, जो निस्वार्थ-भाव से ज्ञान की वृद्धि करने पर तुले हों, और जो उसी में आनन्द मानते हों, ऐसे अलौकिक पुरुष जीने का मोह त्याग कर संसार के हजारों नर-नारियों के पथ-प्रदर्शक बनते हैं।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जीने का मोह कैसे दूर

किया जाय ? उत्तर में हमारा निवेदन यह है कि यह कार्य साम्प्रदायिकता को नष्ट किये बिना नहीं हो सकता। समाज को भेदभाव से भरी हुई धर्मान्धता से निकालना चाहिए। जब मस्तिष्क दासता से मुक्त हो जाता है, तब उसमें नीरोग बिचार भरे जा सकते हैं। यूनानियों के दार्शनिक बिचारों ने सब से बड़ा पुण्य का कार्य यही किया कि योरप वालों को धर्मान्धता के जाल से निकाल दिया और उनमें बिचार-स्वातन्त्र्य के बीज वपन कर दिये। प्राचीन काल के आर्य लोग भी मेधा अर्थात् बुद्धि की भीख अपने देवी-देवताओं से माँगा करते थे, क्योंकि मस्तिष्क की गुलामी सबसे बड़ी गुलामी है। उससे मुक्त हुए बिना कोई नया बिचार मन में आ ही नहीं सकता। प्रचलित धर्म-अधर्म के बिचार, आचार-अनाचार के नियम और प्रमाणवाद के सिद्धान्त तभी छलनी में छाने जा सकते हैं, जब हम मिथ्या विश्वासों से निकल जायँ। जब जनसाधारण इन क़ैदखानों से निकल कर एक-दूसरे से मिलेंगे, तभी उनको नये आदर्श कायम करने की योग्यता आ सकेगी।

—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

अन्तःपुर का आरम्भ

हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ, के वज्र-निनाद से सारा जङ्गल दहल उठा। उस गम्भीर, भयावनी ध्वनि ने तीन बार, और उसकी प्रतिध्वनि ने सात-सात बार सातों पर्वत-श्रेणियों को हिलाया। और, जब यह हु-हुङ्कार शान्त हुआ, तब निशीथ का सन्नाटा छा गया; क्योंकि पशु-पक्षी किसी की मजाल न थी कि जरा सकपकाता भी।

अब केसरी ने एक बार दर्प से आकाश की ओर देखा, फिर गरदन घुमा-घुमा कर अपने राज्य—वन-प्रान्त—की चारों सीमाओं को परताल डाला। उसके घुँघराले केश उसके प्रपुष्ट कन्धों पर इठला रहे थे। वह अकड़ता हुआ, डकारता हुआ, निर्द्वन्द्व मस्तानी चाल से उस टीले के नीचे उतरने लगा, जिस पर से उसने अभी-अभी गर्जना की थी।

उसने एक बार अपनी पूंछ उठाई। उसे कुछ क्षण चँवर की तरह डुलाता रहा, फिर नीचे करके एक बार सिंहावलोकन करता हुआ चलने लगा। उसके घुटनों की धीमी चड़मड़ भी जी दहला देने वाली थी।

ऊपर पहाड़ी में एक गुफा थी। बहुत बड़ी नहीं, छोटी-सी ही। आजकल के सभ्य कहलाने वाले—प्रकृति से लाखों कोस दूर—दो मनुष्य उसमें कठिनता से विश्राम कर सकें। लेकिन यह

उस समय की बात है, जब मनुष्य वनौकस था। कृतयुग के आरम्भ की कहानी है।

गुहा का आधा मुंह एक लता के अञ्चल से ढका था। आधे में एक मनुष्य खड़ा था। हाँ मनुष्य, हम लोगों का पूर्वज, पूरा लम्बा, ऊँचा, पँचहत्था जवान, दैत्य के सदृश बली, मानो उसका शरीर लोहे का बना हो। उसके बायें हाथ में धनुष था और दाहिने हाथ में बाण। कमर में कृष्णाजिन बँधा हुआ था—मौञ्जी मेखला से पीठ पर रुरु के अजिन का उत्तरीय था। उस खाल की दो टाँगों की—एक आगे की, दूसरी पीछे की; एक दाहिनी, दूसरी बाईं की—कैंची की गाँठ छाती के पास बँधी हुई थी, बाकी दो लटक रही थीं। चारों में खुर लगे थे। उस पूर्वज का शरीर रोएँ की घनी तह से ढका हुआ था। सिर पर बिखरे बड़े-बड़े बाल। गहबर लट पड़ी हुई दाढ़ी। सहज गौरवर्ण धूप, वर्षा, जाड़े से पक कर तँबिया गया था। शरीर पर जगह-जगह घट्ठे थे—पेड़ पर चढ़ने के, पहाड़ पर चढ़ने के, रेंगने के, घिसलने के; क्योंकि पुरातन नर की जीवनचर्य्या के ये ही समय-यापन थे। और, एक बड़ा भारी घट्ठा दाहिने हाथ की मुट्ठी पर था—प्रत्यञ्चा खींचने का। अरने भैंसे की सींग का बना, पुरसा-भर ऊँचा धनुष; उसी की कड़ी मोटी ताँत की प्रत्यञ्चा को खींचते-खींचते, केवल यह घट्ठा ही नहीं पड़ गया था, प्रत्युत बाँहें भी लम्बी हो गई थीं। वे घुटने चूमा चाहती थीं।

उस पुरुष के पीछे थी आद्या नारी। उसको चीतल की चित्र

उत्तरीय थी, और कटि में एक बल्कल। एक सुन्दर फूली लता की टहनी सिर से लिपटी थी, और बिखरी हुई लटों में उलझी थी। कानों में छोटे-छोटे सींग के टुकड़े पड़े हुए थे। हाँ, वे ही—चूड़ियों के पूर्वज।

वह अपने पुरुष के कन्धे का सहारा लिये, उसी पर अपने दोनों हाथ रक्खे और ठुड्ढी गड़ाये खड़ी थी।

पुरुष के अङ्ग फड़क रहे थे। उसने स्त्री से कहा—देखो आज फिर आया—कल घायल कर चुका हूँ, तिस पर भी!

"तब आज चलो, निपटा डालें।"

"हाँ, अभी चला।"

पुरुष अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगा, और स्त्री ने अपना मठारे हुए चकमक पत्थर के फलवाला भाला सम्हाला। वह उसके बगल में ही दीवार के सहारे खड़ी थी। भाला लेकर उसने पूछा—

"'अभी चला?' मैं भी तो चलूंगी।"

"नहीं, तुम क्या करोगी? क्या तुम्हें मेरी शक्ति पर सन्देह है?"

"छी! परन्तु मैं यहाँ अकेली क्या करूँगी?"

"यहीं से मेरा खेल देखना।"

"नहीं, तुम्हारी रक्षा का खयाल है।"

"क्यों, आज तक किसने मेरी रक्षा की है?"

"हाँ, मैं यह नहीं कहता कि तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं, पर······"

"पर···········"

"मेरा जी डरता है।"

"क्यों ?"

"तुम सुकुमारी हो।"

आद्या का मुंह लाल हो उठा। क्रोध से नहीं; यह नये प्रकार की स्तुति थी, इसकी रमणीयता से उसका हृदय गुदगुदा उठा।

उसने मुसकरा कर पूछा—तो मैं क्या करूँ ?

"यहाँ बैठी-बैठी तमाशा देखो। मैं एक झङ्खाड़ लगा कर गुफा का मुँह और भी छिपाये देता हूँ। आजकल इन चतुष्पदों ने हम द्विपदों से रार ठान रक्खी है। देखना सावधान !"

"जाओ ? जाओ ? आज मुझे छल कर तुम मेरे आनन्द में बाधक हुए हो—समझ लूँगी ?

"नहीं, कहना मानो । हृदय आगा-पीछा करता है, नहीं तो·········"

"अच्छा, लेकिन झङ्खाड़ लगा कर क्या करोगे ? क्या मैं इतनी निहत्थी हो गई ?"—शक्ति ने मुसकरा दिया।

"तो चला।"—कहकर पुरुष जब तक चले-चले, तब तक नारी ने उसका हाथ पकड़ लिया—"लेकिन देखो, उसके रक्त से तुम्हे सजाऊँगी मैं ही। और, किसी दूसरे को उसकी खाल भी न लेने देना।"

"नहीं, मैं उसे यहीं उठाये लाता हूँ। अब देर न कराओ। देखो, वह जा रहा है—निकल न जाय !"

नारी ने उत्तेजना दी—"हाँ, लेना बढ़के !"

पुरुष ने एक बार छाती फुला कर चीत्कार किया। सिंह ने वह चीत्कार सुना। सिर उठा कर पुरुष की ओर देखा। वहीं तन कर खड़ा हो गया। और पुरुष भी तूफान की तरह उसकी ओर तीर सन्धाने हुए बढ़ा।

एक क्षण में दोनों शत्रु आमने-सामने थे। सिंह टूटा ही चाहता था कि चकमक फलवाला बाण उसका टीका फोड़ता हुआ सन्न करता निकल गया। गुहा में से किलकारी की ध्वनि सुन कर पुरुष का उत्साह और भी बढ़ उठा।

इसी क्षण म्रियमाण सिंह दूसरे आक्रमण की तैयारी में था कि मनुष्य ने उसे गेंद की तरह समूचा उठा लिया, और अपने पुरसे तक ले जाकर धड़ाम से पटक दिया। साथ ही सिंह ने अपने पञ्जों से अपना ही मुँह नोचते-नोचते, सिर फेंकते-फेंकते, ऐंठते हुए पुनः एक हलकी पछाड़ खाकर अपना दम तोड़ दिया।

नारी गुहा-द्वार के सहारे खड़ी थी। उसका आधा शरीर लता की ओट में था। वहीं से वह अपने पुरुष का पराक्रम देख रही थी, आनन्द की कूकें लगा रही थी।

हाँ, उसी दिन अन्तःपुर का आरम्भ हुआ था।

—राय कृष्णदास

———

खड़ीबोली का विकास

इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गये और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केन्द्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ीबोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फ़ारस और तुर्किस्तान से आये हुए सिपाहियों को यहाँ वालों से बातचीत करने में बड़ी दिक्कत होती थी। न ये उनकी अरबी-फ़ारसी समझते थे, न वे इनकी 'हिन्दवी'। पर बिना वाग्-व्यवहार के काम चलना असम्भव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ-कुछ शब्द सीख कर किसी प्रकार आदान-प्रदान का रास्ता निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले-पहल एक खिचड़ी पकी, जिसमें दाल-चावल सब खड़ीबोली के थे, सिर्फ नमक आगन्तुकों ने मिलाया। आरम्भ में तो वह निरी बाज़ारू बोली थी, पर धीरे-धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ-कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले 'शुद्ध' 'अशुद्ध' बोलने वालों से 'सही' 'गलत' बोलवाने के लिये शाहजहाँ की 'शुद्धो सहीह

इत्युक्तोत्यशुद्धा गलतः स्मृतः' का प्रचार करना पड़ा था, वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध-अशुद्ध न निकल कर सही-गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे भी अपने नौकर से 'एक गिलास पानी' न माँग कर 'एक गिलास' ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख-उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने 'ओजबेक' का उजबक, 'कुतका' का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे; एवं ये लोग बरेहमन सुन कर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी हिन्दी, बुन्देलखण्डी हिन्दी, पण्डिताऊ हिन्दी, बाबू-इङ्गलिश की तरह यह उस समय उर्दू-हिन्दी कहलाती थी; पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बन कर उसी प्रकार उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा, जिस प्रकार 'संस्कृतवाक्' के लिए केवल 'संस्कृत' शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मान कर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ-जहाँ फैलते गए वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फ़ारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फ़ारसी-अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाना आरम्भ कर दिया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गये; एक तो हिन्दी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, र व्याकरण का सङ्गठन हिन्दी ही के अनुसार रख कर, अँग्रेज़ों ने इसका एक तीसरा रूप 'हिन्दुस्तानी' बनाया। अतएव

इस समय इस खड़ीबोली के तीन रूप वर्तमान हैं—(१) शुद्ध हिन्दी—जो हिन्दुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिन्दुओं में है, (२) उर्दू—जिसका प्रचार विशेष कर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिन्दुओं की बाहर की बोलचाल की, भाषा है, और (३) हिन्दुस्तानी—जिसमें साधारणतः हिन्दी-उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका सब लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

प्रसङ्गवश हम 'हिन्दी' शब्द के इतिहास पर थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहते हैं। पहले कुछ लोग इस शब्द से बड़ी घृणा करते थे और इसका प्रतिनिधि 'आर्य-भाषा' शब्द प्रयुक्त करते थे। पर अब इसी का प्रयोग बढ़ रहा है। है भी यह सिन्धु से निकला हुआ बड़ा पुराना शब्द। ईसा-मसीह से बहुत पहले फ़ारस में लिखी गई 'दसातीर' नामक फ़ारसी धर्म पुस्तक में जो 'अकनूँ बिरहमने व्यास नाम अज़ हिन्द आमद बस दानाके आक़िल चुनानस्त' और 'चूँ व्यास हिन्दी बलख़ आमद' लिखा है, वही हिन्दी शब्द की प्राचीनता के प्रमाण में यथेष्ट है। एक मुसलमान लेखक ने 'नूरनामा' नाम की पुस्तक में उस भाषा को भी 'हिन्दी' बतलाया है, जिसको आजकल उर्दू कहते हैं। अरबी-फ़ारसी-मिश्रित खड़ीबोली के लिए 'उर्दू' शब्द का प्रयोग बहुत ही

आधुनिक है। पहले बहुत करते थे तो केवल हिन्दी न कह कर 'उर्दू-हिन्दी' कह देते थे।

इन तीनों रूपों पर अलग-अलग बिचार करने के पहले लगे-हाथ हम यह भी लिख देना चाहते हैं कि खड़ीबोली की उत्पत्ति के विषय में जो बहुत से बिचार फैल रहे हैं, वे प्राय: भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों का क्या, सम्वत् १६८५ के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति तक का कहना है कि आरम्भ में हिन्दी या खड़ीबोली ब्रजभाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इसमें सब प्रकार के शब्द सम्मिलित हो गए और इसने एक नया रूप धारण किया। इस कथन में तथ्य बहुत कम है। खड़ीबोली के कलेवर पर ध्यान देने ही से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि यह ब्रज-भाषा से निकली हुई होती तो इसमें उसी के से घोड़ो, गयो, प्यारो आदि ओकारान्त रूप पाये जाते, जो शौरसेनी प्राकृत से ब्रजभाषा को विरासत में मिले हैं, न कि आकारान्त घोड़ा, गया, प्यारा आदि। ये आकारान्त रूप अपभ्रंश से हिन्दी में आए हैं। हेमचन्द्र ने "स्यादौ दीर्घह्रस्वौ" सूत्र से इनकी सिद्धि बतला कर कई विभक्तियों में आकारान्त रूपों के उदाहरण दिए हैं।

जैसे—

(१) ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णी ॥

(२) ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु।

निद्दये गमिही रत्तडी दडवड होई विहाणु ॥

[दूल्हा साँवला धन चम्पावरनी,
दूल्हा, मैं तोहि बरज्यौ मत कर दीरघ मान ।
नींदै गँवैहो रतिया चटपट होइ बिहान ॥]

मालूम नहीं यह पैशाची अपभ्रंश का रूप है अथवा और किसी का। हेमचन्द्र ने तो इसका उल्लेख नहीं किया है, पर पञ्जाबी में आकारान्त रूप मिलने के कारण यह सम्भावना होती है। अतः जिन महापुरुषों ने आकारान्त रूपों पर फ़ारसी के ४ (हे) से अन्त होने वाले शब्दों के प्रभाव की कल्पना की है, उन्हें इस पर फिर से विचार करना चाहिए।

दूसरे, खड़ीबोली का प्रचार भी उसी समय से है, जब से अवधी या ब्रजभाषा का है। भेद केवल इतना ही है कि ब्रजभाषा तथा अवधी में साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है और खड़ीबोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने लगी है। पूर्वकाल में खड़ीबोली केवल बोलचाल की भाषा थी। मुसलमानों ने इसे अङ्गीकार किया और आरम्भ में उन्होंने इसको साहित्यिक भाषा बनाने का गौरव भी पाया। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि खड़ीबोली का सबसे पुराना नमूना जो अब तक मिला है, वह नामदेव की कविता में है। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह अंश क्षेपक और जाली है, पर इस कथन को यदि हम वितण्डावाद के नाम से पुकारें तो अनुचित न होगा। अस्तु, नामदेव को छोड़ भी दिया जाय तो हमें खड़ीबोली का सबसे पहला कवि अमीर-खुसरो मिलता है, जिसका जन्म सम्वत् १३१२ में और मृत्यु सम्वत् १३८१

में हुई थी। अमीर-खुसरो ने मसनवी-खिज्रनामा में, जिसमें मुख्यतः सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्रखाँ और देवलदेवी के प्रेम का वर्णन है, हिन्दी-भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है, इस अवसर पर वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी भाषा फ़ारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मरी और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फ़ारसी में यह कमी है कि बिना मेल के वह काम में आने योग्य नहीं होती। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण से किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती को उपमा देना शाभा नहीं देता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो; और न रहने पर माँग कर पूँजो बनाना भो अच्छा है। हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है, क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।"

खुसरो ने हिन्दी और अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने तथा हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनिमय में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से खालिकबारी नाम का एक कोष पद्य में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवा

कर तथा ऊँटों पर लदवा कर सारे देश में बाँटी गई थीं। अतएव अमीर-खुसरो खड़ी बोली के आदि कवि ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने हिन्दी तथा फ़ारसी-अरबी में परस्पर आदान-प्रदान में भी, अपने भरसक सहायता पहुँचाई है। विक्रम की १४ वीं शताब्दी की खड़ीबोली की कविता का नमूना खुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है। जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता।
ए सखि, साजन? ना सखि कुत्ता॥
स्याम वरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागै प्यारी॥
जो मानुष इस अरथ को खोलै।
कुत्ते की वह बोली बोलै॥

रहीम खानखाना ने भी खड़ीबोली में कविता की है। उनका मदनाष्टक खड़ीबोली का बड़ा मधुर उदाहरण है—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

हिन्दू-कवियों ने तथा कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने भी अपनी कविता में इस खड़ीबोली का प्रयोग किया है। भूषण ने

शिवाबावनी में अनेक स्थानों पर इस भाषा का प्रयोग किया है।

ललितकिशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिये—

जङ्गल में हम रहते हैं दिल बस्ती से घबराता है।
मानुस-गन्ध न भाती है, मृग-मरकट-सङ्ग सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम-दम आहें भरना आता है।
ललितकिसोरी इश्क रैन-दिन ये सब खेल खेलाता है॥

सीतल कवि (१७८०) ने खड़ीबोली में बड़ी ही सुन्दर रचना की है। मधुरिमा तो उनकी कविता के अङ्ग-अङ्ग में व्याप रही है। देखिये—

हम खूब तरह से जान गये जैसा आनन्द का कन्द किया।
सब रूप सील गुन तेज पुञ्ज तेरे ही तन में बन्द किया॥
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले फिर विधि ने यह फरफन्द किया।
चम्पकदल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला चन्द किया॥

अतएव यह सिद्ध है कि खड़ीबोली का प्रचार कम-से-कम सोलहवीं शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इसका अधिक आदर नहीं था। सच बात तो यह है कि खड़ीबोली को काव्य-भाषा का स्थान कभी नहीं मिला था। यह उसकी अपनी सजीवता थी कि वह समय-समय पर स्वयं अपना सिर उठा देती थी। हरिश्चन्द्र ने भी उसमें बहुत कविता नहीं की है। काव्य की परम्परा के लिए ढाली चली आती हुई ब्रजभाषा के सामने उसका काव्य के लिए स्वीकृत होना बहुत कम सम्भव था, क्योंकि खड़ीबोली में मधुरता का अभाव था। पर रहीम ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि संस्कृत

वृत्तों का अनुसरण करने से खड़ीबोली की कविता में मिठास लाई जा सकती है। यही बात पीछे चल करके फ़ारसी वृत्तों के सम्बन्ध में हरिऔधजी की रचनाओं से प्रमाणित हुई। वर्तमान युग में मराठी के संसर्ग से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने फिर से इसी बात का अनुभव प्राप्त किया और उनके दिखाये हुए मार्ग पर चल कर बाबू मैथिलीशरण तथा कई और कवियों ने अच्छी सफलता प्राप्त की।

अट्ठारहवीं शताब्दी में विशेष रूप से हिन्दी के गद्य की रचना आरम्भ हुई और उसके लिए खड़ीबोली ग्रहण की गई। पर इससे यह मानना कि उर्दू के आधार पर हिन्दी (खड़ी बोली) की रचना हुई, ठीक नहीं है। पण्डित चन्द्रधर गुलेरी ने लिखा है—"खड़ीबोली या पक्कीबोली या रेखता या वर्तमान हिन्दी के आरम्भ-काल के गद्य और पद्य को देख कर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी-अरबी तत्समों और तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिन्दू तो अपने घरों को प्रादेशिक और प्रान्तीय बोली में रँगे थे, उनकी परम्परागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' कर अपने लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया। किसो प्रान्तीय भाषा से उनका परम्परागत प्रेम नहीं था। उनकी भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली। हिन्दू अपने-अपने प्रान्त की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिन्दू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढ़ी

और साहित्य की भाषा हिन्दी हो; मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ीबोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिन्दी की विभाषा है। किन्तु हिन्दुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत-कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिन्दुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिन्दी को अपना लिया। हिन्दी-गद्य की भाषा लल्लूलालजी के समय से आरम्भ होती है। उर्दू-गद्य उससे पुराना है; खड़ीबोली की कविता हिन्दी में नई है। अभी तक ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू-पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिन्दी, गद्य और पद्य, खड़े रूप में मुसलमानी है। हिन्दू-कवियों का यह सम्प्रदाय रहा है कि हिन्दू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलाते थे और मुसलमान-पात्रों से खड़ीबोली।"

यद्यपि गुलेरी जी का यह निष्कर्ष कि 'खड़ीबोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उसका प्रचार चारों ओर फैला, तथा मुसलमानों की कृपा के ही कारण हिन्दी के इस खड़ी बोली रूप का महत्व हुआ' सर्वथा सत्य है, और इसके लिए हमें उनका उपकार मानना चाहिए; परन्तु उनका यह कहना कि 'उर्दू-रचना में फ़ारसी-अरबी तत्सम या तद्भव निकाल कर संस्कृत तत्सम या तद्भव रखकर हिन्दी बना ली गई', ठीक नहीं है। उर्दू का आदि-कवि मुहम्मद कुली माना जाता है। सम्वत् १६३७ में गोलकुण्डे के बादशाह सुल्तान इब्राहीम की मृत्यु पर उसका पुत्र मुहम्मदकुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। पर हिन्दी का खड़ी-

बोली-वाला रूप हमें साहित्य में संवत् १३०० विक्रम के आरम्भ में, अर्थात् उर्दू के आदि-कवि से कोई ३०० वर्ष पहले, भी मिलता है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि उर्दू के आधार पर खड़ी-बोली का रूप प्रस्तुत हुआ। मुहम्मद कुली के कई सौ वर्ष पहले से उर्दू पर ब्रज की काव्यमयी भाषा का प्रभाव पढ़ चुका था। मुसलमानों की उर्दू कविता में भी ब्रजभाषा के रस-परिपुष्ट शब्दों का बराबर और निस्सङ्कोच प्रयोग होता था। पीछे के उर्दू-कवियों ने इस काव्य-भाषा के शब्दों से अपना पीछा छुड़ा कर और खड़ी-बोली को अरब तथा फ़ारस की वेष-भूषा से सुसज्जित करके उसे स्वतन्त्र रूप दे दिया। अतएव यह कहना तो ठीक है कि उर्दू वास्तव में हिन्दी की 'विभाषा' है; पर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उर्दू के आधार पर हिन्दी खड़ी हुई है। "उर्दू कविता पहले स्वभावतः देश की काव्य-भाषा का सहारा लेकर उठी। फिर जब टाँगों में बल आया, तब किनारे हो गई।" हिन्दू-कवियों ने जो मुसलमान-पात्रों से खड़ी बोली बुलवाई है, उससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि वह मुसलमानी भाषा थी। पात्रों की भाषा में मूलतः भेद करना इस देश की पुरानी परिपाटी थी और मुसलमानों की कोई ऐसी सर्वजन-बोध्य स्वकीय भाषा नहीं थी, जिसका कवि लोग प्रयोग करते। अतः उन्होंने उसके लिए उनके द्वारा अपनाई गई खड़ीबोली का प्रयोग किया, और विशेष आत्मीयता बोधन करने के लिए हिन्दू-पात्रों की भाषा ब्रज या अपने प्रदेश की रक्खी।

इसी प्रकार हिन्दी-गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिन्दी-गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इस विषय में हम प्रसङ्गात् पहले लिख चुके हैं, पर यहाँ भी कुछ कहना चाहते हैं। अकबर बादशाह के यहाँ सम्वत् १६२० के लगभग गङ्ग भाट था। उसने 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' खड़ीबोली के गद्य में लिखी है। उसकी भाषा का नमूना देखिये :—

"इतना सुन के पातशाह जी श्री० अकबरशाह जी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया, इनके डेढ़ सेर सोना होगया, रास बचना पूरन भया।"

गङ्ग भाट के पहले का कोई प्रामाणिक गद्य-लेख न मिलने के कारण उसे खड़ीबोली का प्रथम गद्य-लेखक मानना चाहिए। इसी प्रकार सम्वत् १६८० में जटमल ने "गोराबादल की कथा" भी इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में लिखी है, जिसकी बानगी यह है :—

"चित्तौड़गढ़ के गोरा बादल हुआ है जिनकी वीरता की किताब हिन्दवी बना कर तयार करी है।"

लल्लूजीलाल हिन्दी-गद्य को आधुनिक रूप देने वाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुन्शी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिन्दी अनुवाद "सुखसागर" वर्तमान है। उसका कुछ अंश नीचे उद्‌धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिन्दी-गद्य आरम्भ हो चुका था :—

"धन्य कहिये राजा पृथुजी को, नारायण के अवतार हैं, कि जिन्होंने पृथ्वी मन्थन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाये

और किसी से सहायता न माँगी, कि किसी और की सहायता चाहेंगे तो उसे दुख होयगा। वह दुख आपको होय, इस हेत अपने प्राक्रम से जो कुछ बन आया सो किया। फिर कैसा कुछ किया कि इसका नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

इसके अनन्तर इन्शाअल्लाखाँ, लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुन्दर है। प्रेमसागर में भिन्न-भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलायकरि, बुलायकर, बुलायकरिके आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। इन्शाअल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुन्दर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढङ्ग की है। इसीलिए कुछ लोग इसे हिन्दी का नमूना न मान कर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। साराँश यह है कि यद्यपि फोर्टविलियम कॉलेज के अधिकारियों, विशेष कर डॉक्टर गिल-क्रिस्ट की कृपा से हिन्दी-गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजीलाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिन्दी (खड़ीबोली) का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अँग्रेज़ों की कृपा से हिन्दी-गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिन्दी-साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

—श्यामसुन्दरदास

रुपया

—✻—

मैं लड़कों के लड़कपन का खिलौना हूँ—मिठाई हूँ। मैं जवानों की जवानी हूँ—मस्ती हूँ। मैं बूढ़ों की बुढ़ौती की लकड़ी हूँ—सहारा हूँ। मैं रुपया हूँ।

मनुष्य मेरा गुलाम है। मैं उसे हज़ार नाच नचा सकता हूँ, नचा चुका हूँ, नचा रहा हूँ। दुनिया मुझसे दबती है। मैं उसे उलट सकता हूँ, उलट चुका हूँ, उलट रहा हूँ। प्रकृति मेरी वश-वर्त्तिनी है। मैं उसे बनाता हूँ, बिगाड़ता हूँ, तोड़ता हूँ, मरोड़ता हूँ। मैं रुपया हूँ।

विशाल विश्व में यदि कोई ईश्वर हो तो मैं हूँ। धर्म हो तो मैं हूँ। प्रेम हो तो मैं हूँ। मैं सत्य हूँ, मैं शिव हूँ, मैं सुन्दर हूँ। मैं सत् हूँ, मैं चित् हूँ, मैं आनन्द हूँ,।। परलोक मैं हूँ, लोक मैं हूँ। हर्ष मैं हूँ, शोक मैं हूँ। क्षमता मैं हूँ, ममता मैं हूँ। मैं रुपया हूँ।

मेरी झनझनाहट में जो अलौकिक मधुरिमा है, वह वीणा-पाणि की वीणा में कहाँ? लक्ष्मीपति के पाँचजन्य में कहाँ? कोकिल की कल-काकली में कहाँ? कामिनी के कोमल कण्ठ में कहाँ? डमरू वाले के डमरू में कहाँ? मृदङ्ग मुरचङ्ग में कहाँ? सितार जलतरङ्ग में कहाँ? यहाँ कहाँ? वहाँ कहाँ? मैं सप्त स्वरों से ऊपर अष्टम स्वर हूँ। परम मधुर हूँ। मैं रुपया हूँ।

गीता के गायको, चण्डी सप्तशती के पाठको, भागवत के भक्तो, सत्यनारायण कथा के प्रेमियो, रामायण के अनुरागियो, महाभारत के मानने वालो—मेरा गीत गाओ, मेरा पाठ पढ़ो, मेरे भक्त बनो, मेरी कथा सुनो, मुझसे अनुराग करो, मुझे मानो, मेरी शरण आओ। तारन-तरन मैं हूँ, भव-भय-हरण मैं हूँ, अशरणशरण मैं हूँ, जन-दुःख-हरण मैं हूँ, धवल-वर्ण मैं हूँ, मङ्गलकरण मैं हूँ, पुण्य-चरण मैं हूँ। मैं रुपया हूँ।

मुझको आँख दिखा कर, मुझे ठुकरा कर, मुझसे विद्रोह कर कोई बच सकता है ? कोई नहीं। जमींदार मैं हूँ, राजा मैं हूँ, बादशाह मैं हूँ, बादशाहों का बादशाह मैं हूँ, मैं ईश्वर हूँ। मैं रुपया हूँ।

लंका—सीता की रुष्टि-तुष्टि से नहीं, मेरी रुष्टि-तुष्टि से जली थी। मैं विभीषण पर प्रसन्न था। कौरव—द्रोपदी के कोप से नहीं, मेरे कोप से नष्ट हुए थे; मैं पाण्डवों पर प्रसन्न था। जर्मनी—ब्रिटेन या अमेरिका की धूर्त्तता से नहीं, मेरी धूर्त्तता से पराजित हुआ; मैं ब्रिटेन पर प्रसन्न हूँ।

ठाकुर जी बोलते नहीं, मैं बोलता हूँ—उनसे बड़ा हूँ। ठाकुर जी चलते नहीं, मैं चलता हूं—उनसे मेरी अधिक साख है। देवताओं में वह आकर्षण नहीं, जो मुझ में है। ईश्वर में वह तेज नहीं, वह शक्ति नहीं, जो मुझ में है। यह युग तर्क का है, उदाहरण का है, प्रत्यक्षवाद का है, स्वयं-प्रभुता का है—मैं प्रत्यक्ष हूँ,

सद्यःफल का दानी हूँ, स्वयं-प्रभु हूँ, आकर्षक हूँ, ईश्वर हूँ, ईश्वर से बड़ा हूँ। मैं रुपया हूँ।

मुझ से वरदान लेकर पाप करो, तुम देवताओं से पूजे जाओगे। मुझ से वरदान लेकर एक-दो नहीं, सात ख़ून करो, साफ बच जाओगे। साम्राज्य को साम्राज्य से भिड़ा दो। मनुष्यता की बढ़ी हुई खेती को बेरहमी से कटवा डालो—जलवा डालो। स्त्रियों की मर्यादा को—पैसे में दो सेर के हिसाब से—दिन में दस बार खरीदो और बेच डालो। संसार को विधवाओं, बच्चों, बूढ़ों और अपाहिजों की 'हाय' से भर दो। भूकम्प उठा दो। प्रलय कर दो। जो चाहे सो कर दो; मगर मुझ से बरदान लेकर। मैं सर्वशक्तिमान् हूँ। मैं रुपया हूँ।

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।'

—बेचन शर्मा 'उग्र'

ताज

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश्वर की अत्युत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाया चाहता है। मनुष्य-जाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार

वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे, जिसे पी कर वह अमर हो जाय। किन्तु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रतिदिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है, तब उसका हृदय तड़पने लगता है। भविष्य में आने वाले अन्त के तथा उसके अनन्तर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं, सर्वस्व के विनष्ट होने के विचार मात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है! मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार वह इस अप्रिय सत्य को भूल जाय और उसे ही भुलाने के लिए, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही के लिए, कई बार मनुष्य सुख-सागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचार मात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के उस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं, किन्तु उनकी समग्र वस्तुएँ, स्मृतियाँ, स्मृत-चिह्न आदि सब कुछ बह आयँगे; इस संसार में तब उनके सांसारिक जीवन का चिह्न-मात्र भी न रहेगा और उनको याद करने वाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक संसार में अपनी स्मृतियाँ—अमिट स्मृतियाँ—छोड़ जाने को विकल हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनका अन्त अवश्यम्भावी है, किन्तु सोचते हैं कि सम्भव है उनकी स्मृतियाँ संसार में रह जायँ। पिरेमिड, स्फिंक, बड़े-बड़े मक़बरे, कीर्तिस्तम्भ, कीलियाँ, विजयद्वार, विजय-तोरण आदि कृतियाँ मनुष्य की इसी इच्छा के फल हैं। एक तरह से देखा जाय तो

इतिहास भी, अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। यों अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए मनुष्य ने भिन्न-भिन्न प्रयत्न किये, किसी ने एक मार्ग का अवलम्बन किया, किसी ने दूसरे का। कई एक विफल हुए, अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानव-समाज की स्मृति पर चिह्न तक विद्यमान नहीं है। बहुतों के ऐसे प्रयत्नों के खण्डहर आज भी सारे संसार में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूक-भाव से मनुष्य की इस इच्छा को देख कर हँसते हैं तथा रोते हैं। मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आँसू गिराते हैं। परन्तु यह देख कर कि अभी तक मनुष्य अपनी विफलता को नहीं जान पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही आशा उसका पीछा नहीं छोड़ती है, मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल में फँसा हुआ है, वे मूक-भाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विक्षिप्त कर देने वाला अट्टहास करते हैं।

परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति है। यद्यपि समय के सामने किसी की नहीं चलती, तथापि कई एक मस्तिष्कों ने ऐसी खूबी से काम किया है, उन्होंने ऐसी चालें चली हैं कि वे समय के उस प्रलयकारी भीषण प्रवाह को रोकने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने समय को अनुपम सौन्दर्य के अदृश्य पाश में बाँध डाला, उसे अपनी कृतियों की अनोखी छटा दिखा कर लुभाया है; यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृति को ही नहीं, किन्तु अपने भावों के स्मारकों को भी चिर-

स्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानव-मस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्भुत उदाहरण है।

× × ×

वह अन्धकारमयी रात्रि थी। सारे विश्व पर घोर अन्धकार छाया हुआ था, तो भी जग सोया न था। संसार का ताज, भारतीय साम्राज्य का वह सितारा, भारत-सम्राट् के हृदय-कुमुद का वह चाँद आज सर्वदा के लिए नष्ट होने को था। शिशु को जन्म देने में माता की जान पर आ बनी थी। अन्तिम घड़ियाँ थीं। उन सुखमय दिनों का, प्रेम तथा सुख से पूर्ण छलकते हुए उस काल का, अब अन्त होने वाला था। संसार कितना अचिर-स्थायी है !

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत-सम्राट् के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग, बुझ रहा था। अब भी स्नेह बहुत था, किन्तु अकाल काल का झोंका आया। वह झिलमिलाती हुई लौ उसे सहन नहीं कर सकी। धीरे-धीरे प्रकाश कम हो रहा था; दुर्दिन की काली घटाएँ उस अँधेरी रात्रि के अन्धकार को अधिक कालिमामय बना रही थीं; आशा-प्रकाश की अन्तिम ज्योति-रेखाएँ निराशा के उस अन्धकार में विलीन हो रही थीं। और तब········सब अँधेरा ही अँधेरा था।

इस सांसारिक यात्रा की अपनी सहचरी प्राण-प्रिया से अन्तिम भेंट करने शाहजहाँ आया। जीवन-दीपक बुझ रहा था, फिर भी अपने प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को देख कर पुनः

एक बार लौ बढ़ी; बुझने से पहले की ज्योति हुई, मुमताज के नेत्र खुले। अन्तिम मिलाप था। उन अन्तिम घड़ियों में, उन आँखों के द्वारा क्या-क्या मौनालाप हुआ होगा, उन दोनों प्रेमियों के हृदयों में कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की बातें लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते हुए मुँह से नहीं लिख सकती।

अन्तिम क्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था, देखती आँखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत-सम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बैठा किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से बिदा होने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमङ्गों पर, पाला पड़ रहा था। क्या-क्या आशाएँ थीं, क्या-क्या अरमान थे? जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी, तभी एकाएक शाहजहाँ को उसकी जीवन-सङ्गिनी ने छोड़ दिया। ज्योंही सुख-मदिरा का प्याला ओठों को लगाया कि वह प्याला गिर पड़ा, चूर-चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिए अदृष्ट हो गई।

हाय! अन्त हो गया, सर्वस्व लुट गया। परम प्रेमी, जीवन का एक-मात्र साथी सर्वदा के लिए छोड़ कर चल बसा। भारत-सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताजमहल सदा के लिए

इस लोक से बिदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहाँ का शाह था, परन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते हैं, जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला मात्र है। वे यह भी कहते हैं कि इस जीवन का सङ्ग तथा वियोग क्या है, एक प्रवाह में साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों के साथ तथा विलग होने के समान है। परन्तु क्या ये बिचार एक सन्तप्त हृदय को शान्त कर सकते हैं ? क्या ये भावनाएँ चिरकाल की विरहाग्नि में जलते हुए हृदय को सान्त्वना प्रदान कर सकती हैं ? सांसारिक जीवन की व्यथाओं से दूर बैठा हुआ, सांसारिक जीवन-संग्राम का एक तटस्थ दर्शक भले ही कुछ भी कहे, किन्तु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए, सांसारिक घटनाओं के कठोर थपेड़े खाते हुए, हृदयों की क्या दशा होती है, वह एक भुक्तभोगी ही कह सकता है।

× × ×

वह चली गई, सर्वदा के लिए चली गई। अपने रोते हुए प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को, अपने बिलखते हुए प्यारे बच्चों को तथा समग्र दुखी संसार को छोड़ कर, उस अँधियारी रात में न जाने वह कहाँ चली गई। चिरकाल का वियोग था। शाहजहाँ की आँख से एक आँसू ढलका, उस सन्तप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुन्दर शरीर पृथ्वी की भेंट हो गया; अगर कुछ शेष

रहा तो उसकी वह सुखप्रद स्मृति तथा उस स्मृति पर, उसके उस चिर-वियोग पर, आहें तथा आँसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुन्दर मूर्ति, मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों चूर्ण हो गई। और उस मूर्ति के वे भग्नावशेष! जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अञ्चल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तप्त आँखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकल कर वे इस वाह्य जगत् में आये थे। वे भी समय के बाद सर्द होने लगे। समय के ठण्डे झोकों के थपेड़े खाकर उन्होंने एक ऐसा सुन्दर स्वरूप धारण किया कि आज भी न जाने कितने आँसू ढलक पड़ते हैं और न जाने कितने हृदयों में हलचल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर बहाये गए शाहजहाँ के वे आँसू चिरस्थायी हो गए।

सब कुछ समाप्त हो गया था, किन्तु अब भी कुछ आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी मृत्यून्मुख प्रियतमा के प्रति उस अन्तिम भेंट के समय किये गये अपने प्रण को वह नहीं भूला था। उसने सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में, भारत के ही नहीं, संसार के उस चाँद को उन शुष्क हड्डियों पर एक ऐसी कब्र बनावे कि वह संसार के मक़बरों का ताज हो। शाहजहाँ को सूझी कि अपनी प्रेयसी की स्मृति को तथा उसके प्रति अपने अगाध शुद्ध प्रेम को स्वच्छ, श्वेत स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करे।

धीरे-धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तट पर एक मक़बरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनाया गया, उस पर सफेद सङ्गमरमर का ऊँचा चबूतरा निर्माण किया गया, जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाये गए जो बेतार के तार से, चारों दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं तथा उसका यशोगान करते हैं। मध्य में शनैः-शनैः मक़बरा उठा। वह मक़बरा भी उस श्वेत वर्ण वाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान सौन्दर्य में अनुपम तथा अद्वितीय था। अन्त में उस मक़बरे को एक अतीव सुन्दर किन्तु महान् गुम्बज का ताज पहनाया गया।

पाठको ! उस सुन्दर मक़बरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा नहीं कर सकती, फिर बेचारी जड़ लेखनी का क्या कहना ? अनेक शताब्दियाँ बीत गईं, भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। भारत की वह सुन्दर कला तथा महान् समाधि के निर्माण-कर्ता भी समय के इस अनन्त गर्भ में न जाने कहाँ विलीन हो गए; परन्तु आज भी वह मक़बरा खड़ा हुआ, अपने सौन्दर्य से संसार को लुभा रहा है। वह शाहजहाँ की उस महान् साधना का, अपनी प्रेमिका के प्रति अनन्य तथा अगाध प्रेम का, फल है। वह कितना सुन्दर है ? आँखें ही देख सकती हैं, हृदय ही उसकी सुन्दरता का अनुभव कर सकता है। संसार उसकी सुन्दरता को देख कर स्तब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृत प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की अञ्जलि अर्पण की तथा भारत ने

अपने महान् शिल्पकारों और चतुर क़ारीगरों के हाथों शुद्ध प्रेम की इस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवा कर पवित्र प्रेम की वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

+ + +

बरसों के परिश्रम के बाद अन्त में मुमताज का वह मक़बरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षों की साध पूरी हुई। एक महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। जब इस मक़बरे के पूर्ण होने पर शाह-जहाँ पूरे समारोह के साथ उसे देखने गया होगा, आगरे के लिए वह दिन कितना गौरव-पूर्ण हुआ होगा! इतिहासकारों ने उस दिन का—भारत की ही नहीं, संसार की शिल्पकला के इतिहास के उस महान् दिवस का—वर्णन कहीं नहीं किया है। कितने सहस्र नर-नारी आबाल-वृद्ध उस दिन उस अपूर्व मक़बरे के—संसार की उस महान् कृति के—दर्शनार्थ एकत्र हुए होंगे? उस दिन मक़बरे को देख कर भिन्न-भिन्न दर्शकों के हृदयों में कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे? किसी को इस महान् कृति की पूर्ति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने यह देख कर गौरव का अनु-भव किया होगा कि उसके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है, जिसकी तुलना करने के लिए संसार में कदाचित् ही दूसरी कोई वस्तु मिले; कई एक उस मक़बरे की छबि को देख कर मुग्ध हो गए होंगे; न जाने कितने चित्रकार उस सुन्दर कृति को अङ्कित करने के लिए ही दौड़ पड़े होंगे; न जाने कतने

कवियों के मस्तिष्कों में क्या-क्या अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

परन्तु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था, जिसके हृदय में भिन्न-भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध हुआ था। दो आँखें ऐसी भी थीं, जो वाह्य सुन्दरता को चीरती हुईं, एकटक उस कब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आँखें थीं शाहजहाँ की आँखें। जिस समय शाहजहाँ ने ताज के उस अद्वितीय दरवाजे पर खड़े होकर उस समाधि को देखा होगा, उस समय उसके हृदय की क्या दशा हुई होगी, सो वर्णन करना अतीव कठिन है। उसके हृदय में शान्ति हुई होगी कि वह अपनी प्रियतमा के प्रति किये गए अपने प्रण को पूर्ण कर सका। उसको गौरव का भी अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा की कब्र—अपनी उस जीवन-सङ्गिनी की यादगार—ऐसी बनी कि उसकी सानी शायद ही मिले। किन्तु उस जीवित मुमताज के स्थान पर, अपनी जीवन-सङ्गिनी की शुष्क हड्डियों पर यह कब्र—वह कब्र कैसी ही सुन्दर क्यों न हो—पाकर शाहजहाँ के हृदय में जलती हुई चिरवियोग की अग्नि क्या शान्त हो गई होगी? क्या श्वेत सर्द पत्थर का वह सुन्दर मक़बरा मुमताज की मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर सकता था? मक़बरे को देख कर शाहजहाँ की आँखों के सम्मुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज के साथ वह सुखपूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज की स्मृति पर पुनः

आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृतियाँ जग उठी होंगी और पुनः चोट खाये हुए उस हृदय के वे पुराने घाव हरे हो गए होंगे।

पाठको! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देख कर दो आँसू बहाये बिना नहीं रह सकते, तब आप ही स्वयं बिचार कर सकते हैं कि शाहजहाँ की क्या दशा हुई होगी। अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था, और रहे-सहे सुख की प्राप्ति होने को थी, उस सुख-पूर्ण जीवन का मध्याह्न होने ही वाला था कि उस जीवन-सूर्य को ग्रहण लग गया और ऐसा लगा कि वह जीवन-सूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुन्दरता-पूर्ण तेजोमयी लपटों का एक घनीभूत सुन्दर पुञ्ज है, उस ग्रसित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

+ + +

शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देख कर रोया होगा। मरते समय भी वह उस सुन्दर सुम्मन बुर्ज में शय्या पर पड़ा ताजमहल को देख रहा था और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान में बैठे घन्टों उसे निहारा करते हैं। न जाने कितने उस उद्यान में बैठे प्रेमपूर्ण जीवन के नष्ट होने की उस स्मृति पर, अचिरस्थायी मानव-जीवन की उस करुण-कथा पर, रोते हैं। न जाने कितने यात्री दूर-दूर देशों से बड़े-बड़े भयङ्कर समुद्र पार कर उस समाधि को देखने के लिए खिंचे चले आते हैं। वे कितनी उमङ्गों से आते हैं,

और उसासें भरते हुए ही चले जाते हैं। कितने हर्ष से आते हैं, किन्तु दो आँसू बहा कर ही जाते हैं। प्रकृति भी प्रति वर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भङ्ग होने की करुण स्मृति पर रोती है।

मनुष्य-जीवन की—मनुष्य के उस दुःखपूर्ण जीवन की—जहाँ मनुष्य की कई वासनायें अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य के प्रेम-बन्धन बँधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़ कर टूट जाते हैं—मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति—उसकी अतृप्त वासनाओं तथा खिलते हुए प्रेम-पुष्प की वह समाधि—आज भी यमुना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह साम्राज्य, उसका वह तख़्त-ताऊस, उसका वह महान् घराना, शाही जमाने का वह गौरव, आज सब कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर झोंकों में पड़ कर वे सब आज नष्ट हो गए। ताजमहल का वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे रत्न भी न जाने कहाँ चले गए, किन्तु आज भी ताजमहल अपनी सुन्दरता से समय को लुभा कर उसे भुलावा दे रहा है और यों मानव-जीवन की उस करुण-कथा को चिरस्थायी बनाये हुए हैं। वैभव-विहीन ताज का यह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहता है।

आज भी उन सफ़ेद पत्थरों से आवाज़ आती है—"मैं भूला नहीं हूँ।" आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रतिवर्ष उस सम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है; वे कठोर पत्थर भी प्रतिवर्ष उस सुन्दर सम्राज्ञी की

मृत्यु को याद कर, मनुष्य की इस करुण-कथा को देख, पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से एक आँसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई उस भग्न मानव-जीवन की करुण-कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने के लिए दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न हृदय की कथा याद कर कभी-कभी यमुना का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके हृदय में भी आँसुओं की बाढ़ आ जाती है।

उन श्वेत पत्थरों से आवाज़ आती है--"आज भी मुझे उसकी स्मृति है।" आज भी उस खिलते हुए प्रेम-पुष्प का सौरभ—उस प्रेम-पुष्प का, जो अकाल में ही डण्ठल से टूट पड़ा—उन पत्थरों में रम रहा है। वह टूटा हुआ पुष्प सूख गया, परन्तु उस सुन्दर पुष्प की आत्मा विलीन हो गई, अनन्त में अन्तर्हित हो गई। अपने अनन्त के पथ पर अग्रसर होती हुई वह आत्मा उस स्खलित पुष्प को छोड़ कर चली गई; केवल पत्थर की उस सुन्दर किन्तु त्यक्त समाधि में उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने उस निराकार मृत्यु को अक्षय सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप प्रदान किया। मनुष्य के अचिरस्थायी प्रेम को, प्रेमाग्नि की उस धधकती हुई अग्नि को चिरस्थायी बनाया।

—कुमार रघुवीरसिंह

तक्षशिला का विद्यापीठ

—❀०❀—

स्थान—तक्षशिला के गुरुकुल का मठ। चाणक्य और सिंहरण।

चाणक्य—सौम्य, अब अवधि पूरी हो चुकी। कुलपति ने मुझे गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है। केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए ठहरा था, क्योंकि इस वर्ष के भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ा कर मुझ अकिञ्चन को गुरु-दक्षिणा चुका देनी थी।

सिंहरण—आर्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्र-शस्त्र की, इसीलिए मैं पाठ में पिछड़ा रहा, क्षमा-प्रार्थी हूँ।

चाणक्य—अच्छा, अब तुम मालव जाकर क्या करोगे?

सिंहरण—अभी तो मैं मालव नहीं जाता। मुझे तो तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।

चाणक्य—मुझे प्रसन्नता होती है कि तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा। क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं?

सिहरण—मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ। आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्ड-राज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।

सहसा आम्भीक और अलका का प्रवेश।

आम्भीक—कैसा विस्फोट ? युवक, तुम कौन हो ?

सिंहरण—एक मालव।

आम्भीक—नहीं, विशेष परिचय की आवश्यकता है।

सिंहरण—तक्षशिला-गुरुकुल का एक छात्र !

आम्भीक—देखता हूँ कि तुम दुर्विनीत भी हो !

सिंहरण—कदापि नहीं, राजकुमार ! विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, और मुझे तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।

आम्भीक—परन्तु तुम किसी विस्फोट की बातें अभी कर रहे थे। और चाणक्य, क्या तुम्हारा भी इसमें कुछ हाथ है ?

चाणक्य चुप रहता है।

आम्भीक—(सक्रोध) बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रह कर, मेरे अन्न से पल कर, मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन !

चाणक्य—राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।

आम्भीक—वह काल्पनिक महत्व माया-जाल है, प्रत्यक्ष नीच कर्म उन पर पर्दा नहीं डाल सकते।

चाणक्य—सो कैसे होगा, अविश्वासी क्षत्रिय ! इसी से तो दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य-जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।

आम्भीक—और तुम धक्का देने का कुचक्र विद्यार्थियों को सिखा रहे हो !

सिंहरण—विद्यार्थी और कुचक्र ! असम्भव ! यह तो वे ही कर सकते हैं जिनके हाथ में कुछ अधिकार हो—जिनका स्वार्थ समुद्र से भी विशाल और सुमेरु से भी कठोर हो, जो यवनों की मित्रता के लिए स्वयं वाह्लीक तक.........

आम्भीक—बस, बस, दुर्घर्ष युवक ! बता, तेरा अभिप्राय क्या है ?

सिंहरण—कुछ नहीं।

आम्भीक—नहीं, बताना होगा, मेरी आज्ञा है।

सिंहरण—गुरुकुल में केवल आचार्य्य की आज्ञा शिरोधार्य्य होती है; अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं, राज-कुमार !

अलका—भाई ! इस वन्य निर्भर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना वेग है। यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है। जाने दो।

आम्भीक—चुप रहो अलका, यह ऐसी बात नहीं है जो योंही उड़ा दी जाय। इसमें कुछ रहस्य है।

चाणक्य चुपचाप मुस्कराता है।

सिंहरण—हाँ-हाँ, रहस्य है ! यवन-आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर आर्यावर्त्त की सुख-रजनी की शान्ति-निद्रा में उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार, सम्भवतः तक्षशिलाधीश वाह्लीक तक इसी रहस्य का उद्‍घाटन करने गए थे।

आम्भीक—(पैर पटक कर) ओह असह्य ! युवक, तुम बन्दी हो।

सिंहरण—कदापि नहीं, मालव कदापि बन्दी नहीं हो सकता।

आम्भीक तलवार खींचता है।

चन्द्रगुप्त—(सहसा प्रवेश करके) ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतन्त्र है, उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता। यह क्या राजकुमार ! खड्ग को कोश में स्थान नहीं है क्या ?

सिंहरण—(व्यङ्ग से) वह तो स्वर्ण से भर गया है !

आम्भीक—सावधान, तुम सब कुचक्रों में लिप्त हो। और इस मालव को तो मेरा अपमान करने का प्रतिफल—मृत्यु-दण्ड—अवश्य भोगना पड़ेगा।

चन्द्रगुप्त—क्यों, क्या वह एक निस्सहाय छात्र तुम्हारे राज्य में शिक्षा पाता है और तुम एक राजकुमार हो—बस इसीलिए ?

आम्भीक तलवार चलाता है, चन्द्रगुप्त अपनी तलवार पर उसे रोकता है, आम्भीक की तलवार छूट जाती है। वह निस्सहाय होकर चन्द्रगुप्त के आक्रमण की प्रत्याशा करता है। बीच में अलका आ जाती है।

सिंहरण—वीर चन्द्रगुप्त, बस। जाओ राजकुमार, यहाँ कोई कुचक्र नहीं है, अपने कुचक्रों की रक्षा स्वयं करो।

चाणक्य—राजकुमारी, मैं गुरुकुल का अधिकारी हूँ। मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा जाओ। गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिए होता है, द्वन्द्व-युद्ध के लिए नहीं। विश्वास रखना, इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज के कानों तक न पहुँचेगा।

अलका—ऐसा ही हो। चलो भाई!

क्षुब्ध आम्भीक उसके साथ जाता है।

चाणक्य—(चन्द्रगुप्त से) तुम्हारा पाठ समाप्त हो चुका है और आज का यह काण्ड असाधारण है, मेरी सम्मति है कि तुम शीघ्र तक्षशिला का परित्याग कर दो। और सिंहरण, तुम भी।

चन्द्रगुप्त—आर्य्य, हम मागध हैं और यह मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते।

चाणक्य—क्या यही मेरी शिक्षा है? बालकों की-सी चपलता दिखलाने का यह स्थल नहीं है। तुम लोगों को समय पर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु अकारण रक्तपात नीति विरुद्ध है।

चन्द्रगुप्त—आर्य्य! संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है। सिंहरण मेरा आत्मीय है, मित्र है, उसका मान मेरा ही है।

चाणक्य—देखूँगा, इस आत्म-सम्मान की भविष्य-परीक्षा में तुम कहाँ तक उत्तीर्ण होते हो!

सिंहरण—आपके आशीर्वाद से हम लोग अवश्य सफल होंगे।

चाणक्य—आत्म-सम्मान की रक्षा के पहले उसे पहचानना होगा। व्यक्तिगत मान के लिए तो तुम प्रस्तुत हो, क्योंकि तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म-सम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र, एक के अनन्तर दूसरे, विदेशी विजेता से पद-दलित होंगे। आज जिस व्यङ्ग को लेकर इतनी घटना हो गई है उसका अधिकार अब यहीं तक नहीं रहा। भावी गान्धार-नरेश आम्भीक के हृदय में यह बात शल्य के समान चुभ गई है। पञ्चनद-नरेश पर्वतेश्वर के विरोध के कारण, यह क्षुद्र-हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्यावर्त्त का सर्वनाश होगा।

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव! विश्वास रखिये, यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।

चाणक्य—साधु! वत्स साधु! प्रतिज्ञा अचल हो। परन्तु इसके लिए पहले तुम मगध जाकर साधन-सम्पन्न बनो। यहाँ

समय बिताने का प्रयोजन नहीं। मैं भी पञ्चनद-नरेश से मिलता हुआ मगध आऊँगा, क्योंकि मुझे जीविका की खोज है। और सिंहरण, तुम भी सावधान !

सिंहरण—आर्य, आपका आशीर्वाद ही मेरा रक्षक है।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य का प्रस्थान।

सिंहरण—एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त्त के लौह-अस्त्रागार में घुस कर विस्फोट करेगा। चञ्चला रण-लक्ष्मी इन्द्र-धनुष-सी विजयमाला हाथ में लिए उस नील लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर से नाचेंगे। तब आओ देवि ! स्वागत !!

अलका का प्रवेश।

अलका—मालव-वीर, अभी तुमने तक्षशिला का परित्याग नहीं किया ?

सिंहरण—क्यों देवि ! क्या मैं यहाँ रहने के अनुपयुक्त हूँ ?

अलका—नहीं, मैं तुम्हारी सुख-शान्ति के लिए चिन्तित हूँ। भाई ने यद्यपि तुम्हारा अपराध किया है, पर वह अकारण न था, जिसका जो मार्ग है, वह चलेगा। उस पर बिचार करने का सबको अधिकार नहीं; तुमने अनाधिकार चेष्टा की थी। देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य, दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिए रुक जाता है और अपना चलना बन्द कर देता है।

सिंहरण—परन्तु भद्रे, जीवनकाल में भिन्न-भिन्न मार्गों की परीक्षा करते हुए जो ठहरता हुआ चलता है वह दूसरों

को लाभ ही पहुँचाता है। यह कष्टदायक तो है, परन्तु निष्फल नहीं।

अलका—किन्तु मनुष्य को अपने जीवन और सुख का भी ध्यान रखना चाहिये।

सिंहरण—मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिए निरवकाश हृदय वाला हो जायगा, नहीं जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों, और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा, फिर चिन्ता किस बात की ?

अलका—मालव, तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन अमूल्य है, और वही यहाँ आपत्ति में है।

सिंहरण—राजकुमारी, इस अनुकम्पा के लिए कृतज्ञ हुआ, परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गान्धार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है, इसलिए मैं·········

अलका—(आश्चर्य से) क्या कहते हो ?

सिंहरण—गान्धार आर्यावर्त्त से भिन्न नहीं है। इसीलिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।

अलका—(निश्वास लेकर) इसका मैं अनुभव कर रही हूँ। परन्तु जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालवी वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्रता है और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है; तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिए। मैं भी आर्यावर्त्त की बालिका हूँ—उसी नाते तुमसे

अनुरोध करती हूँ कि तुम शीघ्र गान्धार छोड़ दो। मैं आम्भीक को शक्ति भर पतन से रोकूँगी, परन्तु उसके न मानने पर तुम्हारी आवश्यकता होगी। जाओ वीर!

सिंहरण—अच्छा राजकुमारी, तुम्हारे स्नेहानुरोध से मैं जाने के लिए बाध्य हो रहा हूँ। शीघ्र ही चला जाऊँगा, देवि! किन्तु यदि सिन्धु की प्रखर धारा को यवन-वाहिनी न पार कर सकती............

अलका—मैं चेष्टा करूँगी, वीर, तुम्हारा नाम?

सिंहरण—मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र, सिंहरण।

अलका—अच्छा, फिर कभी। कुमार सावधान!

दोनों एक दूसरे को देखते हुए प्रस्थान करते हैं।

—जयशङ्कर 'प्रसाद'

अजन्ता का कलामण्डप

यदि कोई फ्रान्स-निवासी 'लुव्र' के चित्रालय की बात नहीं जानता या कोई अँग्रेज़ लन्दन की 'नेशनल गैलरी' से अपरिचित होता है तो वह अपने समाज में संस्कारहीन गिना जाता है; परन्तु इसे भारत का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि भारतवासी कला और कलाधामों की चर्चा करना केवल निठल्ले, बेकार और आरामतलब मनुष्यों ही का काम समझ बैठे हैं।

सम्पूर्ण संसार के तिहाई भाग से भी अधिक स्थान में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ था। उसने मानव-जीवन में जिन क्रान्तियों, जिन प्रभावों और जिन संस्कारों का प्रचार किया था, उनका प्रमाण होने वाले जो चित्र, मूर्ति, या कला-मन्दिर आज एशिया में पाये जाते हैं उन्हें संसार के विद्वान् एक अमूल्य निधि मानते हैं। मानव-इतिहास में जब-जब मनुष्य के हृदय और मन ने पूर्णता प्राप्त की है, तब-तब कला पर उसका अमिट प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। इतिहास या जीवन की कोई भी घटना जब उच्चकोटि की कला के रूप में प्रकट होती है, तभी उसके महत्व का वास्तविक मूल्य निर्धारित होता है।

इस समय हमारी यह साधारण धारणा हो गई है कि चित्र-कला या सङ्गीत के बिना मनुष्य का काम चल सकता है। इनकी कमी इस समय किसी को नहीं खटकती, किन्तु आज से केवल दो सौ ही वर्ष पहले लोगों में हज़ारों वर्ष की परम्परा से कुछ ऐसे भाव चले आ रहे थे, जिनसे वे सुन्दर गृह-निर्माण, सुन्दर वस्तु तथा अन्यान्य सामग्रियाँ या उत्सवों की शोभा के लिए बहुत ही यत्न और व्यय करते थे। उन्होंने भारत की आत्मा को प्रत्येक आकार, प्रत्येक रूप और प्रत्येक व्यवहार में प्रकट किया था।

धर्म और खान-पान में विभिन्नता होने पर भी एशिया के सभी देशों में यह कला-प्रेम समान रूप से व्याप्त हो रहा है। भिन्न-भिन्न देशों की भिन्न-भिन्न कला-कृतियों की छानबीन करने वाले विद्वानों की दृढ़ धारणा है कि उन सबों के मूल में कला की एक

ही धारा बहती है, और उस धारा का उद्गम और परिपोषण अधिकांश में भारत में ही हुआ था।

संसार के महान् विद्वान् और प्राच्य अन्वेषक सर औरेल स्टीन ने हाल में तिब्बत और चीनी तुर्किस्तान की मरुभूमि में दबे हुए बौद्धधर्म के जो चित्र और प्रतिमाएँ खोद निकाली हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि उनके प्रचारक और शिक्षागुरु भारत से ही शिक्षा ग्रहण करने निकले थे। जापान, चीन, जावा, सुमात्रा, चम्पा, स्याम और ब्रह्म देश की कला में भी भारत की केन्द्र रेखा स्पष्ट दिखाई देती है।

अब यह सभी स्वीकार करने लगे हैं कि समस्त एशिया के इस कला-चक्र की धुरी अजन्ता की गुफाएँ हैं। अजन्ता के इन कला-मण्डपों की कला इतनी अपूर्व, सम्पूर्ण और परिपक्व है कि यदि हम उसे भारतीय कलाओं की गुरुपीठ कहें, तो जरा भी अत्युक्ति न होगी।

अजन्ता के कला-मण्डपों में कला के अवतरित होने के पहले किसने उसका आरम्भ किया था, कितने दिनों से वे व्यवहृत हो रहे थे और किस प्रकार उनका उत्तरोत्तर विकास हुआ था—इन सब बातों के जानने के साधन प्रायः दुर्लभ हो गए हैं। कहते हैं कि ब्रह्मा जब सृष्टि-रचना करने बैठते थे, तब उनके लिए कोई भी चीज असाध्य न रह जाती थी। ऐसा मालूम होता है कि मानो वैसी ही शक्ति लेकर अजन्ता के कलावीरों ने शिल्प और चित्र का निर्माण किया है।

अजन्ता की कलाएँ ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों से लेकर लगभग छठी या आठवीं शताब्दी तक विकसित होती रही हैं। मालवे की 'बाघ', मदरास प्रान्त की 'सीता-निवास' और लङ्का की 'श्रीगिरि' की गुफाओं में आज भी कुछ ऐसे चित्र मौजूद हैं, जो अजन्ता के प्रत्यक्ष अनुकरण मालूम होते हैं। उन पर अजन्ता का प्रताप प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। परन्तु इससे भी आगे बढ़ कर जब हम पहली या दूसरी शताब्दी के तुर्किस्तान, तिब्बत, चीन, जापान आदि के चित्र देखते हैं, और हमें उन पर अजन्ता की वैसी ही प्रभावपूर्ण छाप पड़ी हुई दिखाई देती है; तब हमारे आश्चर्य का पारावार नहीं रहता, और हम सोचने लगते हैं कि अजन्ता की कला ने कहाँ-कहाँ तक अपना प्रभाव डाला था। अजन्ता का नाम भारतवासियों तक पहुँचने के पहले, उसने न जाने कितने यूरोपियनों को चकित कर दिया था, और आज उन्हीं के परिश्रम से न केवल भारत को ही, बल्कि सम्पूर्ण एशिया को अपने इस अपूर्व उत्तराधिकार के लिए गर्व करने का अवसर प्राप्त हुआ है।

अजन्ता कहाँ है ?

बम्बई से रेल में सवार होकर एक रात सफर कीजिये और दूसरे दिन जलगाँव के पहले पाचोरा स्टेशन पर उतर जाइये। वहाँ से छोटी लाइन की गाड़ी में बैठिये, वह दस बजे पहूर नामक ग्राम को पहुँचा देगी। वहाँ से सात मील की दूरी पर निजाम की सीमा में फरदापुर गाँव है। उसी के निकट ऊसर पहाड़ियों में अजन्ता के कलामण्डप छिपे पड़े हैं।

उस वृक्षहीन पथरीले स्थान को देख कर किसी यात्री को इस बात का गुमान भी नहीं होता कि यहाँ संसार की अप्रतिम कला-मूर्तियाँ छिपी हुई हैं। फरदापुर गाँव के अधिकाँश निवासी मुसलमान हैं। यहाँ का टूटा-फूटा किला और बेगमसराय नामक बड़ा सा मुसाफ़िरखाना सबसे पहले नज़र आता है। उन्हें सम्राट् औरङ्गजेब ने बनवाया था। इस समय तो गाँव में शायद ही तीन-चार सौ मनुष्यों की बस्ती होगी। वे कपास आदि की खेती करते हैं और गाड़ियाँ चलाते हैं। सड़क के एक ओर बम्बई के मूलजी जेठा की जिनिङ्ग फैक्टरी और दूसरी ओर डाक-बँगला तथा मुसाफ़िरखाना है। अजन्ता-गुफाओं के रक्षक अधिकारी (क्यूरेटर) भी वहीं रहते हैं। उन्हीं के निरीक्षण में निजाम स्टेट का बड़ा 'गेस्ट हाउस' है जिसमें रहने के लिए राज्य के अधिकारियों से अनुमति प्राप्त करनी होती है।

फरदापुर से चार मील की दूरी पर पहाड़ियों में बाघोरा नदी बहती है। अजन्ता जाते समय एक बार यह नदी पार करनी पड़ती है। इसके किनारे-किनारे ही घूमता हुआ रास्ता है। नदी में सर्पाकार इतने घुमाव हैं कि जब तक आप एकदम पास न पहुँच जायँ, तब तक आपको गुफाओं का ख्याल भी न आवेगा। सुना है अब एकदम गुफाओं तक मोटर जाती है, वरना वैसे भी पैदल जाने में बड़ा आनन्द आता है। यदि भूल कर कहीं फरदापुर के इक्के में बैठ गए तो समझ लीजिए कि हड्डियों की पूरी मरम्मत हो जायगी।

हम लोगों ने अजन्ता के चाहे जितने छपे हुए चित्र देखे हों, उसके सम्बन्ध में चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ी हों, फिर भी पहले-पहल वहाँ का जो चित्र दिखाई देता है, वह हमारी कल्पना से एकदम नया, गम्भीर और विशेष भव्य प्रतीत हुए बिना नहीं रहता। अन्तिम घुमाव समाप्त होते ही प्रायः तीन सौ फ़ीट ऊँचा, वर्तुलाकार दीवार-सा एक सीधा टीला पहाड़ से निकला हुआ दिखाई देता है। उसे देख कर नदी में खड़े हुए मनुष्य को ऐसा ही मालूम होता है मानों वह कोई गगनचुम्बी महान् प्रासाद खड़ा है। इस टीले के बीचोबीच बारहदरियों की सी एक कतार बनी दिखाई देती है। उसे देख कर पहले मन में स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि नदी से उतनी ऊँचाई पर किस तरह पहुँचा जाय। इतने में ही राज्य की ओर से प्रस्तुत आधुनिक ढङ्ग की सीढ़ियों का सिलसिला नजर आता है और पथिक की चिन्ता दूर हो जाती है।

अजन्ता का प्राचीन प्रवेश-मार्ग दूसरा था। इस समय जिसे १७ नम्बर की गुफा कहते हैं उसके पास अभी भी पुराने मार्ग की सीढ़ियों के भग्नावशेष दिखाई देते हैं। यह मार्ग गुफा के पास जिस स्थान में पहुँचता है, उसके दोनों ओर दो बड़े-बड़े हाथी बने हुए हैं। उनमें से एक तो प्रायः टूट-फूट गया है। यहाँ से आगे बढ़ कर बाईं ओर मुड़ने के पहले सामने एक छोटी सी ड्योढ़ी दिखाई देती है, जिसमें द्वारपाल के सदृश नागराज की एक वृहत् और सुन्दर मूर्ति कटी हुई है। अजन्ता के चित्रों की भाँति अजन्ता की शिल्प-कृतियाँ भी अनुपम हैं और उनमें से यह मूर्ति भी एक

है, जो भुलाई नहीं जा सकती। यहाँ तक की चढ़ाई बहुत ही सीधी होने के कारण चढ़ने वाले को कुछ थकावट मालूम होती है, परन्तु इसके बाद ही जब अनुपम दृश्य दिखाई देते हैं, उनसे उसकी सारी थकावट दूर हो जाती है। वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि वह कितनी उच्चकोटि की कला देखने जा रहा है।

यहाँ से जरा आगे बढ़ते ही १६ नम्बर की गुफा का—जो सबसे बड़ी गिनी जाती है—प्राङ्गण मिलता है। यहाँ से नीचे की ओर देखने पर पहाड़ से बल खाकर निकलती हुई नदी स्पष्ट दिखाई देती है। यह गुफा समूचे मण्डप-समूह के मध्य में है, अतः वहाँ से दोनों ओर का घुमाव दूर तक दिखाई देता है और दोनों ओर की करीब-करीब सभी गुफाएँ नजर आती हैं। ऊँचा-नीचा होने पर भी यह मार्ग एक ही सीध में होने के कारण सभी गुफाओं तक पहुँचना सुलभ मालूम पड़ता है।

चन्द्राकार टीलों के पेट में कटी हुई ये गुफाएँ प्रवेश-द्वार से लेकर एकदम अन्त तक मनुष्य की उपासना, धैर्य, प्रेम, भक्ति और हस्त-कौशल का संसार भर में आश्चर्यजनक उदाहरण हैं।

गुफाएँ खोदने की कला अजन्ता में पूर्ण रूप से प्रकट हुई है। समस्त रचना देखने पर मालूम होता है कि यहाँ के शिल्प, चित्र, स्थापत्य आदि में एक ही भावना सुसम्बद्ध शृङ्खला के रूप में प्रकट हुई है। इसमें इतनी सम्पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है कि संसार के किसी दूसरे स्थान से इसकी तुलना नहीं की

जा सकती। यद्यपि सभी बौद्ध-गुफाओं के निर्माताओं ने प्राकृतिक सौन्दर्य, एकान्त और बड़े जना-पथ पर ध्यान रक्खा है, फिर भी सौन्दर्य और एकान्त के लिए तो केवल अजन्ता को ही श्रेष्ठ पद दिया जा सकता है। नीचे नदी बहती है। उसमें बड़ी-बड़ी पत्थर की शिलाएँ हैं। पानी उनसे टकराता हुआ गुफा के ठीक नीचे ही एक गढ़े में इकट्ठा होता है, जो सप्तकुण्ड के नाम से पुकारा जाता है। बौद्ध-भिक्षुक जिस समय नीचे की झाड़ी से वहाँ तक आते-जाते होंगे, उस समय का दृश्य और अनुभव निस्सन्देह अवर्णनीय होगा। इस समय भी उस घाटी में चारों ओर पारिजात-पुष्पों के वन दिखाई देते हैं। साथ ही यहाँ और भी अनेक प्रकार के पुष्प और फल उत्पन्न होते हैं। इसलिए वहाँ पक्षियों का एक विचित्र मेला सा लग जाता है और ऐसे-ऐसे चित्र-विचित्र पक्षी दिखाई देते हैं, जो और कभी नहीं दिखाई देते। सौन्दर्य का आनन्द लेने के लिए अक्टूबर से दिसम्बर तक का समय यहाँ के लिए उपयुक्त माना जाता है।

१६ और १७ नम्बर की गुफाओं से नीचे की समूची घाटी स्पष्ट दिखाई देती है। इन दोनों गुफाओं का निर्माण-समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। नम्बर १६ की गुफा का प्रवेश-मार्ग ६५ फीट लम्बा और १२ फीट चौड़ा है। मुख के समीप आधार के लिए छै विशाल स्तम्भ खुदे हुए हैं, जिनसे वह किसी टाउन हाल के भव्य प्रवेश-द्वार के समान मालूम देता है। उसका भीतरी खण्ड चौकोर, ६५ फ़ीट लम्बा और १५ फ़ीट ऊँचा है।

उसकी छत को बीस स्तम्भ चारों ओर से उठाये हुए हैं। प्रत्येक स्तम्भ पर बेल-बूटे और ज्यामिति के आकारों के खाने बने हुए हैं जिनमें सुरम्य रङ्ग भरा हुआ है। खम्भों के सिरे पर बड़े पेट वाले कीचक इस तरह खुदे हैं मानों वे अपने हाथों पर छत का भार सम्हाले हुए हैं। खम्भे छोड़ कर दीवार तक चारों ओर ८ फ़ीट चौड़ी प्रदक्षिणा की जगह है। दीवार में दोनों ओर छै-छै कोठरियाँ खुदी हुई हैं। प्रवेश-द्वार के सामने की दीवार में भगवान् बुद्ध की एक ध्यानस्थ विशाल मूर्ति तथा दो पार्षदों की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। मूर्ति के आसपास प्रदक्षिणा के लिए खाली स्थान छोड़ दिया गया है।

यह सब काम एक ही टीले के गर्भ में किया गया है; परन्तु स्तम्भ, छत या प्रतिमा की खुदाई करते समय क्या मजाल कि पत्थर का एक भी टुकड़ा कहीं जरूरत से ज्यादा कट गया हो। सर्वत्र ही खुदाई की एक-सी सुरेखा, सरलता, सुघड़ता तथा सुसंस्कृत आकृतियाँ वर्तमान समय के क़ारीगरों को आश्चर्य-चकित कर देने के लिए पर्याप्त हैं।

जहाँ चित्र बने हुए हैं वहाँ चित्रों की जमीन को चिरस्थायी बनाने के लिए दीवारों पर छेनी से तुलाई कर पहले वे खुरदरी बनाई गई हैं, फिर उन पर एक प्रकार के गारे का और गारे के ऊपर पतले चूने का पलस्तर चढ़ाया गया है। इस पलस्तर पर लाल रेखाओं के चित्र अंकित किये गए हैं और उनमें विभिन्न रङ्ग देकर सादृश्य उत्पन्न किया है।

सोलहवीं गुफा के बाहरी चौक की छत चित्रों से भरी पड़ी है। गगनगामी इन्द्र और उनके परिवार का चित्र इस चौक का प्रधान चित्र है। 'प्रणयोत्सव' नामक बहुत प्रशंसित चित्र भी इसी चौक में है। भीतरी हिस्से की दीवारें जमीन से लेकर छत तक बुद्ध भगवान् के जन्मान्तरों की कथाओं से भरी हुई हैं। उनका अधिकांश भाग झड़ कर नष्ट हो गया है अथवा किसी ने खोद डाला है। जो भाग बच गया है उससे समूची कथा समझ में न आने पर भी हज़ारों वर्ष पूर्व के मानव-जीवन के सुख, दुख करुणा आदि के चित्र हृदयस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक ढङ्ग से अङ्कित दिखाई देते हैं। दर्शक ज्यों-ज्यों इन चित्रों पर दृष्टि डालता है, त्यों-त्यों वह अपने आसपास की सृष्टि को भूल कर प्राचीन काल की राज-सभाओं, सुन्दरियों, साधुओं और नागरिकों की स्वप्न-सृष्टि में विचरने लगता है। कहीं राजकुमार दान दे रहा है और भिक्षुक आगे-आगे दौड़ रहे हैं तो कहीं अट्टालिकाओं से मुग्ध-नयना सुन्दरियाँ झुकी पड़ती हैं और उनके हाथ से पुष्प-वृष्टि हो रही है। बुद्ध, यशोधरा और राहुल का बड़ा चित्र भी इस १६ नं० की गुफा में ही है।

अजन्ता के इन मण्डपों में न जाने कितने चित्रकारों ने अपनी तूलिका का कौशल दिखाया होगा, पर उन सबों के हृदय एक ही अनिर्वचनीय भाव में रँगे हुऐ मालूम होते हैं। सभी परम दयामय बुद्ध भगवान् के आदर्शों को दृश्य बनाने के लिए विश्व-कर्मा की तरह तूलिका द्वारा भाव और रूप की सृष्टि करते हुए

दीवारों पर रात-दिन मस्त होकर जुटे रहते होंगे। तब कहीं वर्षों में यह विशाल मण्डप इतनी सुसम्पन्न कला-सिद्धि का आदर्श बन सका होगा। दीवारों पर अङ्कित प्रत्येक चेहरा मनन करने का विषय बना हुआ है। एक-एक हाथ की अँगुलियों का बनाव, उस पर सुशोभित सुन्दर कड़े, चमर लेकर खड़ी हुई टेढ़ी कमर वाली परिचारिकाएँ, लज्जा से अवनत नेत्रों वाली राज-महिलाएँ, विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित अश्वारूढ़ सैनिक—ये सभी उस कला-मण्डप के चित्रकारों की सजीव सृष्टि हैं ? उन्होंने प्रत्येक बात को स्पष्ट रूप से दिखाने के लिए एक भी रेखा, एक भी अलंकार या एक भी भाव अप्रकट नहीं रक्खा। चित्र देखते-देखते हम चित्रकार के जीवन पर विचार करने लगते हैं और उसके हृदय में प्रवेश करने पर हमें मालूम होता है कि उस समय से ही मानव-हृदय प्रेम, भक्ति, वियोग और अन्त का समान रूप से ही अनुभव करता आ रहा है।

गुफाओं के भेद

अजन्ता की गुफाएँ दो प्रकार की हैं। एक चैत्य दूसरे विहार। १६ नम्बर की गुफा विहार-मण्डप है। विहार साधुओं के रहने और अध्ययन करने के लिए बनाये जाते थे। चैत्य में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी इसलिए वह अधिक लम्बा होता है और सामने के सिरे पर उसमें एक स्तूप रहता है। बुद्ध भगवान् के अवशेष पर जो गोलाकार समाधि बनाई जाती

थी उसे स्तूप कहते थे। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा करने भर का स्थान होता है। वहाँ से द्वार तक दोनों ओर स्तम्भों की पंक्ति रहती है। चैत्य अधिक ऊँचा होता है और उसका प्रवेश-द्वार सुचारु क़ारीगरी से खूब सुसज्जित रहता है। अजन्ता को गुफाओं में १६ नम्बर की गुफा अजन्ता का सब से बड़ा चैत्य है। उसके द्वार-देश का दृश्य बहुत ही रमणीय और अलौकिक मालूम होता है। उनके चौक में दाहिनी ओर की दीवार पर नागराज का समस्त परिवार खुदा हुआ है। यह दृश्य इस प्रकार के शिल्प में बहुत ही उच्चकोटि का माना जाता है। चैत्य के द्वार-देश की महराबों का आकार पीपल के पत्ते जैसा रहता है, इस-लिए चैत्यों को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती है।

अजन्ता में चैत्य और विहार दोनों मिल कर छोटी-बड़ी कुल २६ गुफाएँ हैं। इनमें से १,२,१६ और १७ नम्बर की गुफाओं के चित्र कुछ अंश में बचे हुए हैं। शेष सभी गुफाओं में कहीं किसी दीवार पर किसी का सुन्दर मुख, कहीं किसी के खण्डित हाथ-पैर, तो कहीं हाथी या घोड़े पर चढ़े हुए खण्डित शरीर आदि दिखाई देते हैं। उन सबों को सुरक्षित रखने के लिए निजाम-सर-कार की ओर से प्रचुर व्यय कर समुचित व्यवस्था की गई है। इस काम के लिए यूरोप से एक विशेषज्ञ बुलाया गया है। उसने प्रत्येक स्थान में कीटनाषक औषधि डाल कर पपड़ों को सीमेण्ट से जोड़ दिया है,ताकि वे ज्यों-के-त्यों लटके रहें और गिर कर नष्ट न हो जायँ। अनुमान किया जाता है कि इस व्यवस्था से बीस-

पचीस वर्ष तक अब कोई हानि न होगी। ४,६ और २४ नम्बर की गुफाएँ खुदाई करते-करते अधूरी रह गई हैं, जिससे उन दिनों की गुफा खोदने की विधि स्पष्ट मालूम होती है। खुदाई के लिए पतले धारदार औजार काम में लाये जाते थे। इन औजारों से पहले सीधी-सीधी नालियाँ सी खोद ली जाती थीं, बाद को दो नालियों के बीच का हिस्सा गिरा दिया जाता था। खुदाई करने वालों के पीछे क़ारीगरों का दूसरा दल रहता था, और वह दीवारों को चिकना बना कर उन पर पालिश करता जाता था।

क़ारीगरी तो सभी गुफाओं की जोरदार और सुन्दर है, परन्तु १ नम्बर की गुफा खोदने वालों का कार्य बहुत ही आश्चर्य-जनक मालूम होता है। अनेक विघ्न-बाधा और कठिनाइयों के रहते हुए भी उन्होंने १२० फ़ीट की सीधी गहराई किस तरह काट कर पार की होगी, यह एक पहेली सी मालूम होती है। उस गुफा का मुख ६५ फ़ीट चौड़ा है। सामने का मण्डप १४ फ़ीट चौड़ा, १६ फ़ीट ऊँचा और बारीक क़ारीगरी के बेल-बूटों तथा स्तम्भ आदि से भरा हुआ है। भीतरी हिस्सा ६४ फ़ीट लम्बा और इतना ही चौड़ा है। उसके चारों ओर बीस स्तम्भ हैं और स्तम्भों के आस-पास दालान हैं। इस मण्डप के अन्दर सामने की ओर १६ फ़ीट लम्बी एक दूसरी दालान है। वहाँ की क़ारीगरी बहुत ही सुन्दर है। इसी दालान के बीचोबीच गर्भ-मन्दिर में द्वारपालों के साथ भगवान् बुद्ध की सुन्दर मूर्ति है। बाहर से इस मूर्ति तक की दूरी १२० फ़ीट है।

इस गर्भ-मन्दिर वाली दालान में ही एक समूची दीवार पर भगवान् बुद्ध की तपश्चर्या और मार के आक्रमण वाला चित्र अङ्कित है। अनेक प्रकार के प्रलोभन और भय के साधनों के साथ मार बुद्ध भगवान् को विचलित करने आया है। इसमें चित्र-कार की तूलिका की अजीब करामात दिखाई देती है। प्रत्येक आकृति स्पष्ट रेखाओं में विविध अभिनय, भाव और अलङ्कारों के साथ इस तरह अङ्कित की गई है कि आधुनिक चित्रकार उनसे बहुत-कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इस चित्र-मण्डल में बुद्ध भगवान् की मूर्ति पर अलौकिक शान्ति परिलक्षित होती है। समूचा चित्र करीब १२ फ़ीट ऊँचा और ८ फ़ीट चौड़ा है। समझ में नहीं आता कि जिस स्थान में केवल शाम को ही प्रकाश पहुँचता है और वह भी कुछ ही क्षणों के लिए, उस स्थान की इस दीवार पर इतनी कारुकार्ययुक्त और कलापूर्ण आकृतियाँ किस प्रकार अंकित की गई होंगी। आज भी जब शाम के वक्त सूर्य की अन्तिम किरणें इस गुफा में प्रवेश करती हैं तब थोड़ी देर के लिए सब चित्र जगमगा उठते हैं और दर्शक अवाक् होकर अद्भुत-अद्भुत कहने लगता है और उसका हृदय श्रद्धा से प्रणाम करने लगता है।

गुफा नम्बर १ और २ में सब से अधिक चित्र सुरक्षित बचे हैं। उनमें ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हैं, जिनसे उनका समय जाना जाता है। १ नम्बर वाली गुफा के मण्डप की दालान में एक ऐसा चित्र है, जिसमें हिन्दू राजा पुलकेशी द्वितीय की राजसभा में

ईरान के राजा खुशरू परवेज के राजदूत भेंट अर्पण करते हुए दिखाये गए हैं। इस चित्र से ईरान और भारत का प्राचीन सम्बन्ध प्रकट होता है। अधिकतर यह घटना सन् ६२६ से ६२८ तक की है। इस १ नम्बर की गुफा की चित्रकारी अजन्ता की कला-समृद्धि की पराकाष्ठा दिखाती है। संसार के अनेक देशों की प्राचीन कला का साधन रेखाएँ हैं, किन्तु अजन्ता के चित्रकार की रेखाओं में जो अनेक तत्त्व प्रकट हुए हैं, वे संसार की अन्य कलाओं में दिखाई नहीं देते। यहाँ तूलिका पर चित्रकार का इतना अधिकार दिखाई देता है कि उससे जो रेखा निकलती है वह भाव के अनुसार ही रूप धारण करती जाती है। अजन्ता की आकृतियों के देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि गोल या घन आकृतियों को रेखा द्वारा व्यक्त करने की क्रिया उनके लिए सुसाध्य हो गई थी। कहीं उभरती हुई आकृतियाँ, कहीं झूलते हुए मुक्ताहार और मुलायम वस्त्र, कहीं सुघड़ नासिका और मृदु उदर, तो कहीं धातु के जगमगाते हुए रत्नजड़ित मुकुट इत्यादि विविध चीजें देखने पर ही अजन्ता के चित्रकार के आलेखन सामर्थ्य का अन्दाजा लगाता है। केवल रेखाओं में ही मानव-शरीर को इतनी विविधता से अङ्कित करने वाले चित्रकार संसार में शायद ही और कहीं पाये जायँगे। विना कम्पन के निःशङ्क भाव से और छटापूर्ण अर्थ, भाव, लक्षण आदि से सम्पूर्ण चित्र अङ्कित करनेवाला अजन्ता का यह चित्रकार, उस युग को देखते हुए, संसार का कोई दैवी पुरुष ही मालूम होता है।

इसी गुफा के गर्भ-मन्दिर के पास दाहिनी ओर मण्डप की दीवार पर 'बोधि-सत्व' का बड़ा सा चित्र है। यह उस समय का रूपक चित्र है, जिस समय कुमार सिद्धार्थ बुद्ध-पद के लिए गृह-त्याग करते हैं। इस चित्र में मनुष्य के वास्तविक आकार से कुछ बड़े आकार की किञ्चित्, त्रिभङ्गीयुत दाहिने हाथ में नील कमल (इन्दीवर) धारण किये, जीवन मन्थन करते हुए सुकोमल मुख को झुका कर खड़ी हुई राजेश्वर की मूर्ति समस्त संसार की कला में अनुपम मानी जाती है। दीवार पर स्वाभाविकता से बहुत थोड़े में केवल सरल रेखाओं द्वारा विशाल स्कन्ध और सुन्दर दीर्घ बाहुओं के बीच में किञ्चित् छाया दिखा कर इस चित्र में बड़ी खूबी के साथ मृदुता और सुघड़ता लाई गई है। मांसल मनोहर मुखारविन्द, जो खाकी रङ्गों के मिश्रण से अङ्कित किया गया है, चिन्तन, करुणा और मनोमन्थन के भावों को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। तूलिका की एक ही रेखा खींच कर अङ्कित की हुई भौंहें किसी कला-पारङ्गत उस्तादी हाथ का परिचय कराती हैं। नासिका और होठों पर भाव दिखाने भर के लिए जो छाया दिखाई गई है, वह हमें बतलाती है कि चित्रकार अपने साधनों का बढ़िया से बढ़िया उपयोग करना जानते थे। इस बोधिसत्व का मुकुट भी क़ारीगरी का एक उत्तम नमूना माना जाता है।

इस भाग के समस्त चित्रों में यह स्वरूप बहुत विशाल होने पर भी परम मनोरम है। उसके आस-पास की देव-सृष्टि, मानव-सृष्टि और विचार-निमग्न यशोधरा के चित्र पर दृष्टि

डालिये तब मालूम होता है कि चित्रकार आवेश और स्वस्थता, धीरता, त्वरा आदि सभी भाव दरसाने में एक सा ही कुशल है। इसके अतिरिक्त समस्त चित्रों का संविधान भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। इस चित्र के अलावा पास ही के एक दरवाजे पर प्रेम-मग्न यक्ष-दम्पति का एक निर्दोष चित्र अङ्कित है। इसी मण्डप की बाईं ओर की दीवार पर बुद्ध के पूर्व-जन्म की चम्पेय जातक नामक कथा का, काशिराज और नागराज के मिलन का भव्य चित्र है। इन सब चित्रों को देखने पर मालूम होता है कि अजन्तावासियों को संसार का ज्ञान और अनुभव भली भाँति उपलब्ध था।

दूसरे नम्बर की गुफा के चित्र अन्तिम काल के माने जाते हैं, परन्तु इसमें भी दो-चार ऐसे चित्र हैं जो अजन्ता के उत्तम चित्रों की कोटि में रक्खे जा सकते हैं। एक दीवार पर एक बहुत ही करुणापूर्ण चित्र है। इस चित्र का ऊपरी भाग खण्डित हो गया है। फिर भी चित्र की घटना समझने में कोई बाधा नहीं पड़ती। चित्रों में एक राज-मण्डप अङ्कित है। मण्डप में एक सिंहासन पर चारों ओर से युवतियों द्वारा घिरा हुआ एक राजपुरुष बैठा है। उसके हाथ में नङ्गी तलवार है और वह चरणों में पड़ी हुई एक अभागिन रमणी पर तन रही है। आसपास की सभी आकृतियाँ उसके दुर्भाग्य को देख कर कम्पित और भयभीत हो रही हैं। एक-आध दयाभिक्षा माँग रही हैं। यह चित्र इतना भावपूर्ण है कि उसे देख कर भूतकाल की उस रमणी के लिए हमारे हृदय में भी दया-

याचना करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। दर्शक उसे देख कर विषाद के साथ मौनावलम्बन कर लेता है।

इस मण्डप में बाद को जो चित्र अङ्कित हुए हैं, वे अजन्ता की सर्वोत्कृष्ट कला का मुकाबिला नहीं कर सकते। उन दिनों खोतान और तुर्किस्तान में जैसी चित्रकला प्रचलित थी, वे उसी कोटि के मालूम होते हैं, उनमें असली तत्त्व लोप हो गया है।

अजन्ता की कला की कुछ विशेषताएँ

अजन्ता का पूर्ण अवलोकन करने वाले के मानस-पटल पर वहाँ की कला-विषयक कुछ अमिट स्मृतियाँ अङ्कित हुए बिना नहीं रह सकतीं। अजन्ता के चित्रकारों ने मालूम होता है कि कमल-पुष्प से बहुत सी प्रेरणाएँ और चित्र-कौशल प्राप्त किया है। मण्डप की छतों पर बड़े-बड़े वृत्ताकार चक्रों के बीच में बड़े-बड़े कमल-दल अङ्कित कर आस-पास के चक्करों और जमीन पर उसकी अनेक प्रकार की आकृतियाँ अङ्कित की गई हैं। उन्हें देखने पर मालूम होता है कि कला के स्वरूप में कमल इतनी विविधता-पूर्वक शायद ही संसार में और कहीं दिखाये गए होंगे। कमल-पुष्प, कमल-कलिकाएँ, कमल-पत्र, कमल दण्ड या कमल-गुच्छ की सुशोभित और सुसंस्कृत रेखाएँ, वल्लरियाँ और बन्दनवारें अजन्ता में पद-पद पर दिखाई देती हैं। फिर भी उनकी नवीनता कम नहीं होती। चित्रकारों को कमल का फूल इतना आकर्षक प्रतीत हुआ है कि बोधिसत्व की मूर्ति के हाथ में या स्तम्भ पर

की पुतलियों के हाथ में या प्रेमी दम्पतियों के बीच में शोभा के लिए उन्होंने उसे अवश्य स्थान दिया है।

कमल के बारीक निरीक्षण और अभ्यास से चित्रकारों ने मानव-शरीर के चित्रों में उसका लालित्य लाने की चेष्टा की है। भारतीय शिल्प और स्थापत्य की कृतियों में यद्यपि कमल ने बहुत ही प्राचीन काल से ही स्थान पाया था, परन्तु चित्रों में तो अजन्ता ने ही उसका माहात्म्य स्वीकार कर उसमें अभिवृद्धि की है।

कमल की भाँति हाथी भी भारतीय शिल्प का एक प्रिय अङ्ग है और भारत के सिवा किसी भी दूसरे देश में उसने वास्तविक राज-सम्मान प्राप्त नहीं किया। सिद्धार्थ की माता को गर्भावस्था में एक सफ़ेद हाथी आकाश से उतर कर कुक्ष में प्रवेश करता हुआ स्वप्न में दिखाई दिया था। इस घटना के बाद से हाथी कला और साहित्य में देवकोटि का सम्मान प्राप्त करता आ रहा है। बुद्ध भगवान् के पूर्व जन्मों की जातक कथाओं में अनेक बार हाथी की कथाएँ आती हैं। छद्दन्त जातक की कथा इसका एक अद्भुत दृष्टान्त है। बोधिसत्व किसी जन्म में हाथी थे और उनके दो प्रिय हस्तिनियाँ थीं। उनमें से एक किसी कारण-वश अपनी सौत से असन्तुष्ट हो गई। उसने सिर पटक कर आत्महत्या करली। बाद को एक राजा के यहाँ उसने जन्म ग्रहण किया। इस जन्म में भी वह अपना रोष न भूल सकी। इसलिए वयस्क होने पर उसने अपने पिता के दूतों को उस श्वेत

हाथी का सिर ले आने के लिए जङ्गल भेजा। श्वेत हाथी को यह बात मालूम होने पर वह अपने आप दूतों के सम्मुख आ उपस्थित हुआ, और अपने घात में कोई बाधा न दी। राजपूतों ने उसके दोनों दाँत निकाल कर राज-कन्या के सम्मुख उपस्थित किये। परन्तु उसकी वैराग्नि इससे कुछ पहले ही शान्त हो गई थी, इसलिए वह दुःख से मूर्छित होकर गिर पड़ी। यह समूची करुण-कथा १७ नम्बर की गुफा की दीवारों पर अंकित है। कहीं-कहीं पर वह खण्डित हो गई है। फिर भी चित्रों की वर्णन-शक्ति इतनी जोरदार है कि घटनावली समझने में देर नहीं लगती, और ऐसा मालूम होता है, मानों यह सब हम अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं। इस कथा के चित्रों को देखते हुए आप आगे बढ़ते जाइये। जब आप उस स्थान में पहुँचेंगे, जहाँ गर्भ-मन्दिर की दालान के पास कथा का अन्त आता है, तो वहाँ परम शान्त बुद्ध भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे। इससे हमें इस बात का ज्ञान होता है कि इस प्रकार जन्मान्तर व्यतीत करके आत्मत्याग और वैराग्य द्वारा शान्ति पद प्राप्त करने वाले उस महान् आत्मा का सर्व-साधारण को परिचय देने के लिए कैसी कलामय योजनायें इन मण्डपों में की गई हैं। छद्दन्त जातक की कला में हाथियों के जंगल के जंगल अंकित किए गए हैं, और उनमें अनेक हाथी, हस्तिनियाँ तथा उनके बच्चों के विविध रूप इतने सजीव और भावपूर्ण हैं कि चित्रकार की मनोस्मृति के लिए हमारे मन में असीम श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। हाथी

को लेकर इस प्रकार की चित्रकारी करने वाले चित्रकार इस समय मिल सकते हैं या नहीं, इसमें सन्देह ही है।

अजन्ता की स्त्रियाँ

अजन्ता की मानव-दृष्टि में स्त्रियों का स्थान बहुत ही ऊँचा दिखाई देता है। उस समय वस्त्रों का व्यवहार परिमित होने पर भी स्त्रियों में ऐसी कला और ऐसा विनय दिखाई देता है, जो हमें आनन्द और आश्चर्य में विलीन कर देता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसा भी मालूम होता है मानों कला का वह समूचा संसार स्त्रियों की मधुरता में व्याप्त हो रहा था। चित्रकारों ने स्त्रियों के चित्र अंकित करते समय बहुत ही संयमपूर्वक उनके शरीर के अनुपात और उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शोभा की रक्षा की है। चाहे रानी हो या राजकुमारी, चाहे परिचारिका हो या नर्तकी, कहीं भी वह अधमता धारण नहीं करती। सर्वत्र ही वह मर्यादायुक्त सुन्दर ही दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त समस्त अजन्ता में स्त्री का एक भी ऐसा चित्र नहीं है जिसे देख कर मन में पाशविक वृत्ति या विकार उत्पन्न हो। प्रेमियों के जोड़ों में भी आत्मा का माधुर्य्य और ऐक्य ही दिखाई देता है। यह चित्र सांसारिक होने पर भी उसमें इतना विशुद्ध वायुमण्डल सुरक्षित है कि अश्लीलता की कल्पना नहीं की जा सकती। चित्रकारों ने बहुत ही बारीकी के साथ स्त्रियों की शरीर-स्थिति, हाथ-पैर के अभिनय, अँगुली की लीलाएँ और केश-कलाप की विविध छटाएँ

अंकित की हैं। अजन्ता के केश-कलापों का कोई संग्रह करे तो एक अपूर्व कला-ग्रन्थ बन सकता है। केशों पर कितने प्रकार की लीला हो सकती है, यह जिसे पूर्ण रूप से जानना हो उसे अजन्ता की दीवारों का प्रत्येक भाग खूब ध्यान से देखना चाहिए। इसी तरह वहाँ मुकुटों के भी अनेक प्रकार दिखाई देते हैं। उनके चित्र इतनी निपुणता से अङ्कित किए गए हैं कि यदि कोई जौहरी उनके मणि-मुक्ताओं का ठीक से निरीक्षण करे तो वह इच्छा करने पर वैसे ही नये मुकुट बना सकता है।

अजन्ता के चित्रों से यह भी स्पष्ट मालूम होता है कि उन दिनों की स्त्रियाँ पर्याप्त स्वतन्त्रता और सम्मान उपभोग करती थीं। नगर, बाटिका और वन में स्वेच्छापूर्वक विचरण कर सकती थीं। समाज या राजसभा में सर्वत्र उनकी उपस्थित रहती थी। राजसभा के प्रतिहारी का काम भी चित्रों में स्त्रियाँ ही करती हुई दिखाई देती हैं। भगवान् बुद्ध का पदानुसरण करने वाले अजन्ता के निर्वाणकामी विरक्त साधु भी संसार में स्त्रियों का तिरस्कार करते हुए नहीं दिखाई देते। नारी जाति को सृष्टि के उत्तमाङ्ग की भाँति ही सर्वत्र स्थान मिला है। चित्रकार अपने पात्रों को वाक्-शक्ति देने में असमर्थ है, पर उसने स्त्री-पात्रों के चेहरों के भाव और साथ ही विविध मुद्राओं द्वारा इस कमी की अच्छी तरह से पूर्ति कर दी है। प्रणाम करते हुए हाथ, पात्र धारण किए हुए हथेली या पङ्खा या चमर ढालती हुई अँगुलियों की अगणित छटाओं का अजन्ता में बहुत बड़ा भण्डार है। यदि

आप ढोल पर ताल देती हुई अँगुलियाँ या करताल बजाती हुई हथेलियाँ और उनके सामने नृत्यमय स्थिति में खड़े हुए मनुष्यों को देखें तो आपको यही विचार आयेगा कि अजन्ता के चित्रकार ने एक अद्भुत युग को देखा, जाना और उपभोग किया है।

अजन्ता को देखने के बाद अनेक मनुष्य उस तरह के हाव-भाव तथा छटा को समझते और उसमें आनन्द प्राप्त करते हुए देखे गए हैं। अजन्ता देखने के बाद उस युग के मनुष्यों के सामने हम लोग मानो रूखे, कठोर और जड़-से प्रतीत होते हैं।

इतिहास

यह कहना बेजा नहीं है कि इन कलामण्डपों का पूर्व इतिहास प्रायः अज्ञात है। फिर चित्रों में जिन घटनाओं और कथाओं का वर्णन है वे तो और भी पहले की हैं। इसलिए वे भी अजन्ता का समय-निरूपण करने में विशेष सहायता नहीं करतीं।

चीन से पाँचवीं शताब्दी में फाहियान और सातवीं शताब्दी में ह्यु नचाँग भारत की यात्रा करने आये थे। उन्होंने इस तरह की अनेक गुफाओं के वर्णन लिखे हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से चित्रकला की शिक्षा प्राप्त करके वे अपने साथ अनेक चित्र भी चीन ले गए थे। उन्होंने लिखा है कि उन्हें यह शिक्षा भारत के आचार्यों से प्राप्त हुई थी। ह्यु नचाँग ने एक स्थान में लिखा है कि वह खुद अजन्ता तो नहीं जा सका था, पर उसने उसकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी। उसने लिखा है कि 'महाराष्ट्र का राजा पुलकेशी

द्वितीय है। उसके राज्य में पूर्व ओर के पहाड़ों में, नदी के मूलदेश के समीप, विहार खुदे हुए हैं और उन विहारों की दीवारों पर तथागत के जन्मान्तरों की कथा के चित्र अङ्कित हैं।' निस्सन्देह यह वर्णन अजन्ता का ही मालूम होता है।

इस बात से सभी विद्वान् सहमत हैं कि अजन्ता की ६ और १० नम्बर की गुफाएँ सबसे अधिक पुरानी हैं, क्योंकि उनकी क़ारीगरी भरहुत, अमरावती और साँची के शिल्प से—जो पहली शताब्दी के हैं—बहुत मिलती-जुलती है। समय का इतना पता चलने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि अजन्ता की कला ने दो-तीन युगों का उलट-फेर देखा है। उपरोक्त ६ और १० नम्बर की गुफाओं के चित्र देख कर भी यही राय स्थिर करनी पड़ती है कि उन दिनों में भी चित्रकला की बहुत उन्नति हो चुकी थी। ये चित्र प्राथमिक दशा के प्राचीन गुफावासी मनुष्यों के चित्रों की तरह न तो खिलवाड़ ही हैं और न वे नये प्रयोगों की तरह कोरी लकीरें ही; बल्कि वे जिन लोगों में बहुत दिनों से इसका व्यवहार होता चला आया है उनके निपुण हाथों से अङ्कित उच्चकोटि की कला-कृतियाँ हैं। उन दिनों के साहित्य का कथन है कि बुद्ध के समय के पहले भी भारत में अनेक प्रकार की चित्रकला प्रचलित थी। उपरोक्त बातों से इस कथन की पुष्टि होती है।

अजन्ता के चित्रों में काष्ठ और पाषाण-निर्मित भवनों का आलेखन भी दिखाई देता है, जिससे उन कलामण्डपों की रचना का समय निर्धारित करने में कुछ-कुछ सहायता मिलती है।

निस्सन्देह किसी समय अजन्ता की चित्र-पद्धति समस्त भारतवर्ष में प्रचलित होगी, परन्तु विदेशियों के आक्रमण, आपस की फूट आदि कारणों से वह इस प्रकार नष्ट हो गई है कि आज उसके नाम का भी पता नहीं चलता। अजन्ता पहाड़ के गर्भ में है तथा उसके चित्र पक्की दीवारों पर अङ्कित हैं। इसी कारण वे इतने परिमाण में सुरक्षित रह सके हैं। इस समय इन गुफाओं का समय इस प्रकार माना जाता है—गुफा नं० ६ और १० प्रायः पहली शताब्दी की। नम्बर १० के स्तम्भ करीब ३५० वर्ष बाद के। १६ और १७ नम्बर की गुफाएँ इसके बाद ५०० वर्ष तक की; और गुफा नम्बर १ और २ सन् ६२६ से ६२८ ई० की।

अजन्ता में इन सात-आठ सौ वर्षों में अनेक प्रकार की चित्रकारी हुई थी। यदि उन सबों पर काल और अत्याचारियों की कुटिल दृष्टि न पड़ी होती तो आज वहाँ चित्रों का महासागर दिखाई देता। इस समय जो चित्र बचे हुए हैं उन पर भी बहुत वार हो चुके हैं और वे धुएँ से विकृत हो गए हैं। परन्तु अब निजाम सरकार के निरीक्षण में उनकी समुचित मरहम-पट्टी और उपचार हुआ करता है, जिसके लिए समस्त संसार उसका चिर-कृतज्ञ रहेगा।

अजन्ता का अस्तित्व वर्तमान जगत् में सर्व-प्रथम सन् १८२४ में जनरल सर जेम्स को मालूम हुआ था। वे स्वयं व्यक्तिगत रूप से वहाँ गए थे और उसका संक्षिप्त परिचय लिख कर 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' को दिया था। इसके बाद सन् १८४३ में

मिस्टर फर्ग्युसन ने उसका विस्तृत और हूबहू वर्णन लिखा और तब से विद्वानों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। सन् १८४४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उसके चित्रों की नकल करा लेना स्थिर किया और मद्रास की सेना के मेजर आर० जिल को यह काम सौंपा गया और यह काम सन् १८५७ के गदर तक चलता रहा। करीब ३० प्रतिलिपियाँ तैयार हुईं और इङ्गलैण्ड के क्रिस्टल प्रासाद में उनकी प्रदर्शिनी की गई। सन् १८६६ में आग लगने पर वे समस्त प्रतिलिपियाँ जल गईं। उन चित्रों के अब ट्रेसिङ्ग या फोटोग्राफ भी उपलब्ध नहीं हैं। यदि वे भी मिलें तो हमें बहुत सी बातें देखने को मिल सकती हैं। क्योंकि उसके बाद भी बहुत से चित्र झड़ पड़े हैं या नष्ट हो गए हैं।

इसके बाद मिस्टर फर्ग्युसन ने पुनः सरकार से अनुरोध किया और मूल चित्रों की नकल कराने का काम बम्बई के आर्ट स्कूल के प्रिन्सपल मि० ग्रिफिथ को सौंपा गया। वे पहले खुद अजन्ता जाकर सब कुछ देख आये, बाद को सन् १८७२ से लेकर सन् १८८१ तक स्कूल के विद्यार्थियों की सहायता से गुफाओं की नाप आदि ली और छत तथा स्तम्भों के कतिपय चित्रों की नकलें तैयार कीं। इसमें पचास हजार से भी अधिक खर्च पड़ा। सन् १८८५ में यह काम बन्द कर दिया गया। सन् १८९६ में इस विषय के दो बड़े ग्रन्थ तैयार हुए। इन दोनों में अनमोल सामग्री भरी हुई थी। इन ग्रन्थों की मूल प्रतियाँ इंगलैण्ड में भारत-मन्त्री के संरक्षण में रक्खी गई थीं। मिस्टर ग्रिफिथ तो उन्हें बम्बई के

आर्ट स्कूल में ही रखना चाहते थे, किन्तु इसके लिए सरकार से अनुमति न मिल सकी । उन्होंने इनकी नकल करा लेनी चाही, परन्तु भारत-मन्त्री ने यह प्रार्थना भी स्वीकार न की। अन्त में ये चित्र भी भारत-मन्त्री के दफ़्तर में आग लग जाने से स्वाहा हो गए, शेष रह गए केवल उनके फोटोग्राफ।

इसके बाद सन् १६१५ में लेडी हेरिङ्गम कई भारतीय चित्रकारों के साथ अजन्ता गईं और उन्होंने केवल घटनामूलक चित्रों की ही नकलें कराईं। उस समय तक अजन्ता में निरीक्षण का कोई प्रबन्ध न था, इसलिए उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा और सम्भवतः इसी कारण से उनके कार्य में बहुत सी त्रुटियाँ रह गई हैं, फिर भी उनके कार्य की संसार ने प्रशंसा की और उसी पर निजाम-सरकार ने उन पर पक्का कब्जा कर प्रचुर व्यय से वहाँ सफाई और थोड़ी बहुत मरम्मत कराई। निजाम-सरकार की ओर से गुफाओं की रक्षा के लिए एक क्यूरेटर की नियुक्ति की गई। यह पद मि० सय्यद अहमद को दिया गया, जो पहिले लेडी हेरिङ्गम के दल में सम्मिलित थे और चित्रों की नकलें करने में सहायता करते थे। मिस्टर सय्यद अहमद ने क्यूरेटर के पद पर आने के बाद जिन चित्रों की नकलें तैयार की हैं, उनमें बहुत ही सावधानी रक्खी गई है। फलतः उनमें प्रामाणिक सादृश्य दिखाई देता है। सन् १६२६ में आन्ध्र-नरेश श्रीमान् बालासाहब पन्त प्रतिनिधि ने भिन्न-भिन्न प्रान्त के चित्रकारों के एक दल को अजन्ता में एक मास तक रहने की सुविधा प्रदान

कर वर्तमान समय के समस्त साधनों की सहायता से गुफा के कुछ चित्रों की नकलें तैयार करवाईं, जो बहुत ही आधारभूत बन सकी हैं। इन पंक्तियों के लेखक को भी उस दल में रह कर अजन्ता की छाया में दीक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और उस यात्रा के फल-स्वरूप ही यह लेख लिखा गया है। कला-रसिक पाठकों का चित्त इस लेख को पढ़ कर अजन्ता की ओर आकर्षित हो, वे अजन्ता की यात्रा करें और उनकी कला-भक्ति नई शक्ति प्राप्त करे, यही हमारी आन्तरिक अभिलाषा है।

—रविशङ्कर रावल

कहानी

—※—

ज्योंही बालक का कण्ठ फूटा त्योंही उसने कहा—कहानी कहो।

दादी ने कहना शुरू किया—एक राजपुत्र था, उसके चार मित्र थे, एक मन्त्री का लड़का, दूसरा सौदागर का लड़का, तीसरा···········

इसी समय गुरुजी ने चिल्ला कर कहा—तीन चौके बारह।

परन्तु गुरुजी का हुङ्कार कहानी के राक्षस के हुङ्कार के आगे दब गया। वह लड़के के कानों तक पहुँचा नहीं। जो बालक के

शुभचिन्तक थे उन्होंने उसको एक कमरे में बन्द कर बड़े गम्भीर स्वर से कहा—देखो तीन चौके बारह, यह तो सत्य है और राजपुत्र या मन्त्री-पुत्र को बात बिलकुल झूठी है। इसलिए.....

उस समय बालक का मन मानस-चित्र के उस समुद्र को पार कर रहा था, जिसका पता किसी नक़्शे में नहीं लग सकता। 'तीन चौके बारह' उसके पीछे-पीछे दौड़ता रहता है, परन्तु मृग-जल की तरह उससे पानी नहीं निकलता।

शुभचिन्तकों ने समझ लिया कि लड़का पूरा बदमाश है। बेंत की चोट से ही वह सुधर सकता है।

इधर गुरुजी का रुख देखकर दादी चुप हो गई। पर विपत्ति का अन्त योंही नहीं हो जाता। एक जाती है तो उसकी जगह दूसरी आती है। दादी के चुप हो जाने के बाद पौराणिक जी ने आकर आसन जमाया और उन्होंने राम-बनवास की कहानी शुरू कर दी।

जब सूर्पनखा की नाक काटी जा रही थी, तब शुभचिन्तकों ने आकर कहा—इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं है। जो बात प्रमाणित हो सकती है, वह है 'तीन चौके बारह'।

उस समय हनूमान आकाश में इतने ऊँचे उड़ रहे थे कि इतिहास उनका पल्ला नहीं पकड़ सकता था। पाठशाला के बाद स्कूल में और स्कूल के बाद कॉलेज में लड़के के मानसिक सुधार की योजना होने लगी। परन्तु चाहे कुछ भी किया जाय, यह बात मिट नहीं सकती कि कहानी की स्पृहा ही न रहे।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि केवल शैशव-काल में ही नहीं, सभी अवस्थाओं में मनुष्य की पुष्टि कथा से होती है। इसी से पृथ्वी पर मनुष्य के घर-घर में मुख-मुख में, ग्रन्थ-ग्रन्थ में जो जमा होता है, वह मनुष्य के सभी सञ्चयों से बढ़ जाता है।

शुभचिन्तक यह बात भूल कर भी नहीं सोचते कि कहानी का नशा ही विधाता का अन्तिम नशा है। जब तक उसका सुधार नहीं किया जायगा, तब तक मनुष्य के सुधार की आशा नहीं है।

एक दिन विधाता अपने कारखाने में अग्नि से जल और जल से मिट्टी गढ़ने लगे। उस समय सृष्टि वाष्प-भार से व्याकुल थी। धातुओं और पत्थरों के पिण्ड क्रमशः गूँथे जा रहे थे। उनमें मसाला छोड़ा जाता था और वे दमादम पीटे जाते थे। उस दिन विधाता को देखने से यह बात किसी तरह ध्यान में नहीं आ सकती थी कि इनमें कहीं भी मनुष्य है। उस समय का कारखाना कहा जाता है सारवान्!

इसके बाद प्रारम्भ हुई प्राण की सृष्टि। घास उगी, पेड़ बढ़े, पशु दौड़े और पक्षी उड़े। कोई मिट्टी के बन्धन से आकाश में अञ्जलि देने के लिए खड़ा हुआ। कोई स्वतन्त्र हो अपने को पृथ्वी पर विस्तृत करने के लिए चला। कोई जल को यवनिका पर चुपचाप नृत्य करता हुआ पृथ्वी की प्रदक्षिणा में ही व्यस्त हुआ। कोई आकाश में पर फैला कर सूर्यलोक के वेदी-तल में

सङ्गीत की अर्घ्य-रचना के लिए उत्सुक हुआ। इसी समय से विधाता के मन में हलचल शुरू हुई।

इस तरह कितने युग व्यतीत हुए। हठात् एक दिन विधाता के मन में कोई बिचार उठा और उसने अपने कारखाने में उनचास पवनों को तलब किया। उन सबको लेकर उन्होंने मनुष्य की रचना की। इतने दिनों के बाद कथा की बारी आई। इतना समय विज्ञान और शिल्प में कटा, अब साहित्य शुरू हुआ।

मनुष्य को उन्होंने कहानियों में ही व्यक्त किया। पशु-पक्षी का जीवन है आहार, निद्रा और सन्तान-पालन। मनुष्य का जीवन है कथा। कितनी वेदना, कितनी घटनाएँ, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, अच्छे-बुरे के कितने घात-प्रतिघात होते हैं। इच्छा के साथ इच्छा का, एक के साथ दस का, साधना के साथ स्वभाव का, कामना के साथ घटना का सङ्घर्षण होने से कितना आवर्तन होता है। जिस प्रकार नदी जल की धारा है उसी प्रकार मनुष्य कथा का प्रवाह है। इसीसे हम एक दूसरे से पूछते रहते हैं—क्या हाल है, क्या खबर है, इसके बाद क्या हुआ। इसी 'इसके बाद' से मनुष्य की व्यथा गूँथी हुई है। उसी को हम जीवन की कहानी कहते हैं।

विधाता-रचित इतिहास और मनुष्य-रचित कहानी, इन्हीं दो से मनुष्य का संसार है। मनुष्य के पक्ष में केवल अशोक या अकबर की कथा ही सत्य नहीं हैं। जो राजपुत्र सात समुद्रों को पार कर सात राज्यों का धन खोजने के लिए निकला है, वह

भी सत्य है। हनूमान के वीरत्व की कथा भी सत्य है। उनके गन्ध-मादन को उखाड़ कर ले आने की बात पर कोई सन्देह नहीं हो सकता। मनुष्य के लिए औरङ्गजेब उतना ही सत्य है जितना दुर्योधन। किसके लिए अधिक प्रमाण है किसके लिए कम, इस दृष्टि से इस सत्य की परीक्षा नहीं हो सकती। देखना यही है कि कहानी की दृष्टि से वह असल है या नहीं। उसके लिए यही सबसे बढ़ कर सत्य है।

—पदुमलाल पन्नालाल बख़्शी

मज़दूरी और प्रेम

हल चलाने वाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवन कुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सफ़ेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग़ के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिर कर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में,

फूल में, फल में आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; सन्ध्या-बन्दनादि इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मस्जिद, गिरजे, मन्दिर से इसे सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठण्डे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठ कर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेल कर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसाने वाले बादल के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिन्तनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं

होता, क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है; गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों को अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम हैं? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई"। भोले-भोले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चन्द्रमा छन-छन कर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फ़क़ीर के दर्शन होते हैं, तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कन्धे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिए हुए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज, महा-राजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठाने वाला, भूखों और नङ्गों का पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिये का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिये को देखा। घना जङ्गल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफ़ेद ऊन वाली भेड़ें अपना

मुँह नीचा किये कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफ़ेद हैं। और, क्यों न सफ़ेद हों ? सफ़ेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जङ्गल-जङ्गल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़ कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है; घर इनका बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दारे-फ़ानी में।
ठिकाना बेठिकाना और मकाँ बर ला-मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोंपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्य-मय मुख पर पड़ रही हैं। वह सूर्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे, इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगन्धि से सुगन्धित है। इनके मुख, शरीर और अन्तःकरण सफ़ेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सफ़ेद। अपनी सफ़ेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सबकी आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते-देखते गल गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सबकी आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित, मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिल कर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आये और झम-झम बरसने लगे। मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनन्द-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं; पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अङ्ग नहीं समाता, रग-रग उसकी नाच

रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़ कर पहाड़ी राग अलापना आरम्भ कर दिया। साथ ही धम-धम, थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानन्द का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस बनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है, उसे इस गड़रिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, कि ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मन्द-मन्द हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गम्भीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिये के परिवार की प्रेम-मज़दूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

मज़दूर की मज़दूरी

आपने चार आने पैसे मज़दूर के हाथ में रख कर कहा—यह लो दिन भर की अपनी मज़दूरी।" वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने

आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे। अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मज़दूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नही। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मज़दूर को कुछ भी न दे सका, परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र होगया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज भरत-मिलाप का सा समा बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज़ को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है; साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज़ कल तैयार हो जायगी; तब कुछ खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है, तब ठहर जाती है, सुई हाथ में लिये हुए है कमीज़ घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है, जिसमें बादल बरस कर अभी-अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त "हे

राम" कह कर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहिन को सिली हुई कमीज़ मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज़ में उस विधवा के सुख-दुख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मज़दूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मज़दूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगन्ध आती है। राफल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अन्तःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यन्त्रों को सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है, जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है, वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोद कर मैं साफ करता हूँ, उस आलू में जो रस

मुझे आता है, वह टीन में बन्द किये हुए अचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय के प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कन्धों पर उठा कर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठण्डा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ, तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है ? प्रेम से जीवन सदा गद्गद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ ?

उधर प्रभात ने अपनी सफ़ेद किरणों से अँधेरी रात पर सफ़ेदी सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीस कर सफ़ेद आटा बना लिया। इस सफ़ेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा ; दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी; जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है, तब

वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बल-दायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनन्दमयी प्रातःकालीन शोभा-सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिन-गारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है, तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है, तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनन्ददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मज़दूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हज़ारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मन्दिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना, कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मस्जिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे।

अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन कराने वाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मज़दूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मज़दूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के बिचार और चिन्तन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादरियों, मौलवियों, पण्डितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिन्तन, अन्त में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मज़दूरी की धूल नहीं पड़ने पाती, वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं, जिनसे जोतने, बोने, काटने और मज़दूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं, जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सब-के-सब प्रेम-शरीर के अङ्ग हैं।

निकम्मे रह कर मनुष्यों की चिन्तन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठते मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और

कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण सङ्गीत साहित्य-संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दब कर हमें मरा समझिये! यह नया साहित्य मज़दूरों के हृदय से निकलेगा। उन मज़दूरों के कण्ठ से यह नई कविता निकलेगी, जो अपना जीवन आनन्द के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेद-भाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेजवान कवि जब जङ्गल में लकड़ी काटेंगे, तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावन्तों के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरख़ा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के क़ौमी गीत होंगे। मज़दूरों की मज़दूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कला-रूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी; तभी नये कवि पैदा होंगे; तभी नये औलियों का उद्भव होगा। परन्तु ये सब-के-सब मज़दूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धा-चरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मज़दूर-ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मज़दूरी और फ़कीरी

मज़दूरी और फ़कीरी का महत्व थोड़ा नहीं। मज़दूरी और फ़कीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक हैं। बिना मज़दूरी किये फ़कीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फ़कीरी

भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर, बासी बुद्धि और बासी फ़क़ीरी में मग्न रहते हैं; परन्तु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है; घास नई, पेड़ नये, पत्ते नये—मनुष्य की बुद्धि और फ़क़ीरी ही बासी! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है, जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मानता है। बिस्तर से उठ कर ज़रा बाग़ की सैर करो, फूलों की सुगन्ध लो, ठण्डी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागन बुद्धि और अन्तःकरण को तरो-ताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिन्तन करते रहना अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना, मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पण्डित और साधु, संन्यासी, हल, कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे, तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं, जैसे पिछले साल के थे। परन्तु इस साल वाले

ताजे हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगन्ध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही से रहते हैं। परन्तु मज़दूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घण्टी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल सन्ध्या क्यों करते हो? मज़दूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मज़दूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रङ्ग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्त्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है, उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछने वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है, जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहिन हैं। अपने ही भाई-बहिनों के माता-पिता का नाम

पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुम्बवत् है। लँगड़े, लूले, अन्धे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं, जिसकी छत के नीचे बलवान्, नीरोग और रूपवान् कुटुम्बी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और नीरोग ही तो करेंगे! आनन्द और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मज़दूरी के ही कन्धों पर रहता आया है। कामना-सहित होकर भी मज़दूरी निष्काम होती है; क्योंकि मज़दूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिये जाते हैं, उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है, परन्तु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्य-मण्डल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अन्त में, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानों उसके स्वार्थ रूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परन्तु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं; वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्य-मण्डल के साथ की चाल है और अन्ततः यह चाल जीवन का परमार्थ-रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिए मज़दूरी और फ़कीरी का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

मजदूरी करना जीवन-यात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑव् आर्क (Joan of Arc) की फ़कीरी और भेड़ें चराना, टाल्सटाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नता-पूर्वक तम्बू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रङ्गमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करने वाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते-करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर-दूर से साधु आये हुए थे। गुरु नानक का आगमन सुन कर भागो ने उन्हें भी निमन्त्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा—आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते ? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो, अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा

भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पाल
करने वाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा
और यही धारा मज़दूरों की उँगलियों से निकलती है।

मज़दूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोक
न्तर में विचरते हैं। हाथ की मज़दूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्न
होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलाव
देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी
बदौलत हज़ारों की कीमत का बना देती हैं; नाना प्रकार
प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊ
अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी काग़ज़, लकड़ी और पत्थ
की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के ब
हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हु
जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती है
संसार के सब बाज़ारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी दे
के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर ज
देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी द
करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों के ही बल
सम्भव है, हम जगत् को जीत लें ("We shall beat th
world with the tips of our fingers") । जब तक ध
और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की क़ारीगरी की उन्नति न
होती, तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति
दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ न

नारियों की उँगलियाँ मिल कर क़ारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मज़दूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना, तथा हाथ की क़ारीगरी और मेहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फ़कीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते-डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते, जहाँ मज़दूर और मज़दूर की मज़दूरी का सत्कार नहीं होता; जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करने वालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मज़दूरी सुन्दरता का अनुभव कराने वाले कला-कौशल, अर्थात् क़ारीगरी का रूप हो जाती है। इस देश में जब मज़दूरी का आदर होता था, तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मज़दूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शान्ति प्राप्त होती है, जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मज़दूरी है; परन्तु मन के गुप्त भावों और अन्तःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मज़दूरी है। शिव जी के

ताण्डव नृत्य को और पार्वती जी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में क़ारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं, उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती, जब वह यूनान की प्रेम-मज़दूरी, अर्थात् वहाँ वालों के हाथ की अद्वितीय क़ारीगरी प्रकट करने वाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं—वे जीती-जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देख कर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिये जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मज़दूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखों मरते हैं तब हमारे मन्दिरों की मूर्तियाँ कैसे सुन्दर हो सकती हैं? ऐसे क़ारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिये, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किंवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असम्भव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है, जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की

पूजा को छोड़ कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है इस आदर्श के दर्शाने वाले देवता रस्किन और टाल्सटाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होने वाला है। वहाँ के गम्भीर बिचार वाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेने वाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नये प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और, हो क्यों न? इञ्जनों के पहिये के नीचे दब कर वहाँ वालों के भाई-बहिन—नहीं-नहीं, उनकी सारी जाति—पिस गए; उनके जीवन के धुरे टूट गए; उनका समस्त धन घरों से निकल कर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं; मज़दूरों के हाथ-पाँव फट रहे हैं; लहू चल रहा है! सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखण्ड राज्य है; दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए—मज़दूरों को सुख देने के लिए—परन्तु वे काली-काली मशीनें ही काली बन कर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिऐ मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली-काली बलायें दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मज़दूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का आलिङ्गन करने की। पश्चिम वालों

के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं, परन्तु काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। देखेंगे, पूर्व वाले इस कमली को छाती से लगा कर कितना आनन्द अनुभव करते हैं। यदि हम में से हर आदमी अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहस-पूर्वक अच्छी तरह काम करें तो हमीं, मशीनों की कृपा से बढ़े हुए परिश्रम वालों को, वाणिज्य के जातीय-संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर, आओ पश्चिम में आने वाली सभ्यता के नये प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इञ्जनों की वह मज़दूरी किस काम की; जो बच्चों, स्त्रियों और क़ारीगरों को ही भूखा-नङ्गा रखती है, और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इन से मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य हाथों की मज़दूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डङ्का बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य-जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनन्द-मङ्गल का एक साधारण-सा और महा तुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है; ईश्वर को भूल जाना है अपने भाई-बहिनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देने वाले

को मार कर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है; जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़े से काटना है। अपने प्रिय-जनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारे! मनुष्य-जाति का सुख ही जगत् के मङ्गल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ पैदा होते हैं। चैतन्य-पूजा से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करने वाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकल कर बहती है, तब वही जगत् में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उसमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठा कर कुदाली हाथ में लें। मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में, रख आवें और सब लोग उसी में मज़दूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीति आशिक़ों की तन मन निसार करना।
रोना, सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

—सरदार पूर्णसिंह

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अञ्चल में समतल उर्वरा-भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। हर्ष और उत्साह का वह समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरञ्जित नन्हीं-नन्ही बूँदों का एक झोंका स्वर्ण मल्लिका के समान बरस पड़ा। मङ्गल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्र-पल्लवों से सुशोभित मङ्गल-कलश और फूल, कुम्कुम तथा खीलों से भरे थाल लिए, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रञ्जित हल की मूठ पकड़ कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ा—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती, गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रति वर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में आकर बड़े चाव से योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिए कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौषेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रम-कणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथि-लता न दिखलाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कौतूहल से। और अरुण देख रहा था, कृषक-

कुमारी मधूलिका को। आह, कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त होगया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्यौछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

"देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का यह सुनिश्चित राजकीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी बना।"

"राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मन्त्रिवर!.........महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है, किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—"देव ! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या ! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है ?"

"हाँ, देव !"—सविनय मन्त्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं मन्त्रिवर ?"—महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उस का मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रह-पूर्वक अर्थात् भूसम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को बिचार-सङ्घर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय-घोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गए। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

× × ×

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम भवन में जागरण

कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वही रङ्ग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पङ्ख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे। वे अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरङ्ग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पन्द! अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए। परन्तु कोकिल बोल उठी। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छिः, कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करने वाले धृष्ट, तुम कौन?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह सङ्कोच से उठ बैठी। "भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की सञ्चालिका रही हो?"

"उत्सव! हाँ उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान..............."

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है ? भद्र ! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे ?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है, देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है ! अपरिचित, क्षमा करो ! जाओ अपने मार्ग !"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी............"

"राजकुमार ! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ। मेरा उपहास न करो !"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या ?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंच कर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।"—मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और

मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई ? उसके हृदय में टीस सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

× × ×

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक के वृक्ष के नीचे एक छोटी सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डण्ठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अङ्ग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श-बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था, ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ा कर सोच रही थी। जीवन से सामञ्जस्य बनाये रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—"दो, नहीं-नहीं, तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था ?"

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकी के शब्दों के सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—"क्या कहा था ?" दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता और स्मरण ही होता तो भो कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता ? हाय री विडम्बना !

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। असहाय दारिद्रथ की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डण्ठलों की रन्ध्रों से नीचे नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिल-वाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगुनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है वैसे ही मधूलिका 'अभी वह, वह निकल गया।' मन-ही-मन कह रही थी। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी। ओले पड़ने की सम्भावना थो। मधू-लिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ।

"कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए।"

मधूलिका ने डण्ठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार !"

"मधूलिका ?"—आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी

कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देख कर चकित हो गई—"इतने दिनों के बाद आज फिर ?"

अरुण ने कहा—कितना समझाया मैंने—परन्तु......

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी । उसने कहा—और आज आपकी यह क्या दशा है ?

सिर झुका कर अरुण ने कहा—मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ ।

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—"मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका ! यह भी एक विडम्बना है ! तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ ।"

× × ×

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देने वाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर बट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं । मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता हो !

मधूलिका ने पूछा—जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है ?

"मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है । ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं । भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता ? और करता ही क्या ?"

"क्यों ? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते हैं। अब तो तुम × × ×"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ। निराश क्यों हो जाऊँ ?" अरुण के शब्दों में कल्पना थी ; वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।"

"नवीन राज्य ! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे ? कोई ढङ्ग बताओ तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।"

"कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा ! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।"

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबा कर बोला—तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—"तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से प्राण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल के सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिका, अरुण के खड्ग का आतङ्क देखोगी ?" मधूलिका एक बार काँप

उठी। वह कहना चाहती थी, नहीं—किन्तु उसके मुँह से निकला, "क्या ?"

"सत्य, मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित है। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गए हैं।"

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—तुम बोलती नहीं हो ?

"जो कहोगे वही करूँगी।"—मन्त्र-मुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

× × ×

स्वर्ण-मञ्च पर कोशल-नरेश अधलेटी अर्द्ध-निद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे सञ्चलित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—तुम्हें कहीं देखा है।

"तीन बरस हुए देव ! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये ! आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों ? अच्छा, अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी !"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए ?"

"मूर्खे ! फिर क्या चाहिए ?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जङ्गली भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूँगी, मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा; भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके ! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ ?"

"सिंहमित्र की कन्या ! मैं क्या करूँ ? तुम्हारी यह प्रार्थना······ !"

"देव ! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव!" कह कर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज-मन्दिर के बाहर आई।

× × ×

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जङ्गल है। आज वहाँ मनुष्यों के पद-सञ्चार से शून्यता भङ्ग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काट कर पथ बन रहा था। नगर दूर था; फिर उधर योंही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। किसको इसकी चिन्ता थी?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देख कर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट से घुस कर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—चार पहर और विश्राम करो और प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कोशल राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा। और मगध से निर्वासित मैं, एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके!"

"भयानक ! अरुण, तुम्हारा साहस देख कर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम......"

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी मधूलिके !"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?"

"अवश्य। तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।"

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशङ्क थी। वह कभी-कभी उद्विग्न सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई सङ्केत पाकर उसने कहा—"अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राणपण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए। इसलिए रात्रि भर के लिए बिदा !"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़ने वाले अन्धकार में, वह अपनी झोंपड़ी की ओर चली।

× × ×

पथ अन्धकार-मय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़-तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो ? फिर सहसा

से उतरे। उन्होंने कहा—अग्निसेन ! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे ?

"सेनापति की जय हो ! दो सौ।"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो ; परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का सङ्केत कर सेनापति राज-मन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चञ्चल हो उठे। सेनापति ने कहा—जय हो देव इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देख कर कहा—सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों ? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है ? कोई बाधा ? सेनापति ! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो ?

"देव ! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है। और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देशा दिया है।"

राजा ने मधूलिका को ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—मधूलिका, यह सत्य है ?

"हाँ, देव !"

राजा ने सेनापति से कहा—"सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र की कन्या ! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध कर लूँ।"

× × ×

अपने साहसिक अभिमान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरञ्जित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुँकार की—"वध करो !" राजा ने सबसे सहमत होकर कहा—"प्राणदण्ड।" मधूलिका बुलाई गई। वह पगली सी आकर खड़ी होगई। कोशल-नरेश ने पूछा—"मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।" वह चुप रही।

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।" मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिए।" अरुण हँस पड़ा ! राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा ; माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले।" कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

—जयशङ्कर 'प्रसाद'

उत्साह

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, आनन्द-वर्ग में वही स्थान उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुखी, और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी, होते हैं। उत्साह में हम आने वाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय-द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमङ्ग में अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहसपूर्ण आनन्द की उमङ्ग का नाम- उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है, उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द

उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से, युद्ध-वीर, दान-वीर, दया-वीर इत्यादि भेद किये हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध-वीरता है, जिसमें आघात-पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सह कर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी ले सकते हैं, जब कि साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनन्दपूर्ण प्रयत्न, या उसकी उत्कण्ठा में, ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच सञ्चारण होता है।

दान-वीर में अर्थ-त्याग का साहस, अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता, अन्तर्हित रहती है।

दान-वीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या सम्भावना जितनी ही अधिक होगी, दान-वीरता उतनी ही ऊँची समझी जायगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनन्द के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे, तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं, जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की सम्भावना रहती है। अनुसन्धान के लिए तुषार-मण्डित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगि-स्तान का सफर, क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जङ्गलों में प्रवेश, इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं, वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटने वाला प्राणी नहीं है, मानसिक क्लेश की सम्भावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निन्दा, अपमान इत्यादि का भय रहता है, उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी, बहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसीलिए करते चलते हैं कि

उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे, लोगों में उनका वैसा आदर-सम्मान न रह जायगा। उनके लिए मान-ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़ कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निन्दा-स्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं, वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं, दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रख कर निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लङ्घन करने वाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देख कर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उन्हें कोई मतलब नहीं, उसकी ओर उनका ध्यान लेश-मात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं, उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनन्द की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निन्दा या अपमान को कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस—भाव की दृष्टि से—कहीं अधिक मूल्यवान है, जो किसी प्राचीन प्रथा की—चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़ने वालों की निन्दा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज-सुधार के वर्तमान आन्दोलनों के बीच जिस प्रकार अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गम्भीर पुरुष पाये जाते हैं, उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान भी बहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लम्पटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लम्बे-चौड़े दास्तान हरदम सुनते-सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तान्तों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने ही की सम्भावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गन्दगी फैलाते पाये जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ-अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह, जो कर्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्म-रक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमङ्ग देखी जाती है, उसके सौन्दर्य को पर-पीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्म-मात्र के सम्पादन में जो तत्परता-पूर्ण आनन्द देखा जाता है, वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता; पर थोड़े बहुत आराम, विश्राम, सुभीते इत्यादि का त्याग सब में करना पड़ता है; और कुछ नहीं तो उठ कर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता, तब तक उसे उत्साह की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों-के-त्यों आनन्दित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबन्ध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म-सङ्कल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमङ्ग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है, उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साह वाले वीर को कर्म-वीर कहना चाहिए या बुद्धि-वीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे

सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं, वे नीति की हैं—शस्त्र की नहीं। अत. बिचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है, अतः कर्म-वीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि-वीर के दृष्टान्त कभी-कभी हमारे पुराने ढङ्ग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पण्डित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता है, उस समय उसके बुद्धि-साहस को प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसङ्ग उठा कर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मञ्चों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए परिवारिक प्रपञ्चों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर, अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-शृङ्खला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनन्द की तरङ्गें उठती हैं, वे ही सारे प्रयत्न को आनन्दमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य जो आलम्बन कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य

कर्म-प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिये तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधारक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर, दया-वीर और धर्म-वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दया-वश, श्रद्धा-वश या कीर्त्ति-लोभ-वश दिया जाता है। यदि श्रद्धा-वश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दया-वश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलम्बन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है, उत्साही का साहसपूर्ण आनन्द उसी की ओर उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलम्बन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है, वैसा वीर-रस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है, जिसमें साहस और आनन्द का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है, उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनूमान उठे हैं, उसका कारण समुद्र नहीं—समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्मभावना ही उत्साह उत्पन्न करती है—वस्तु व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के सम्बन्ध में जहाँ आनन्दपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द होता है, उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

१—कर्म-भावना से उत्पन्न,

२—फल-भावना से उत्पन्न और

३—आगन्तुक, अथवा विषयान्तर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है, उसी समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसीसे कर्म की ओर वह उसी झोंके से लपकता है, जिस झोंके से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्त्तक आनन्द की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनन्द भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है, वहाँ कर्म-विषयक आनन्द उसी फल की भावना की तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मन्द पड़ती है—उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है, तब-तब आनन्द

की उमङ्ग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुखी होता है; पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है, जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेश-मात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगा न मालूम हो, तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म-शृङ्खला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनन्द की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा, तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यन्त प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अङ्गों को प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन-से-कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचाने-वाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा, तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छा मात्र हृदय में रख कर जो

प्रयत्न किया जायगा, वह अभावमय और आनन्द-शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधन के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अङ्ग सचेष्ट हो गए तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्ण-राशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हार कर बैठ जाय या लड़खड़ा कर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया, पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान करा के व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए ; फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य ही काफी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है, उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल तक न भी पहुँचे, तो भी उसकी दशा कर्म न करने वाले की अपेक्षा, अधिकतर अवस्थाओं में, अच्छी रहेगी ; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जितना जीवन बीता वह सन्तोष या आनन्द में बीता, उसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से ही कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता।

अनुकूल प्रयत्न-क्रम के अनुसार उसके एक-एक अङ्ग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परम्परा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषधि ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है, तब तक उसके चित्त में जो सन्तोष रहता है—प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश सन्तोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा, जो उसे जीवन भर यह सोच-सोच कर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनन्द अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है, वह लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता, जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय ; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है, जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किये जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं, उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनन्द, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चल कर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है, तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों मे भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है, तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात के रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं

कि हम क्रोध में हैं और क्रोध में ही रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही सञ्चित करते हैं, जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसो विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नता-पूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

—रामचन्द्र शुक्ल